भूमिका

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी काव्य-साहित्य मे दो ही जीवित धाराएँ दिखाई पडती हैं-- एक तो भक्ति-प्रधान काव्य धारा और दूसरी नायक-नायिका-भेद से लदी शृङ्गार रस की धारा। वीर रस की काव्य-धारा पद्य के प्रारम्भ की भूमिका होते हुए भी अधिक काल तक विकसित न हो सकी और परिस्थिति के अनुसार उसका रूप बदल गया। हिन्दी के प्रारम्भ मे वीर-गाथा-काल का इतिहास बिल्कुल स्वाभाविक है। प्रायः सभी जातियों, सभी देशों मे वीरत्व से ही कविता का प्रारम्भ हुआ है। कविता का रूप भी एक तरह से जाति-गौरव से प्रारम्भ होता है। कविता का प्रारम्भ दूसरे शब्दों मे 'रस' से ही है। जिस देश मे सर्वदा युद्ध के बादल घिरे रहते हों, जहाँ समाज और व्यक्ति को जीवित रहने के लिये संघर्ष की आवश्यकता हो, वहाँ कविता वीर रस से प्रारम्भ होगी। इसी तरह जहाँ देश सब तरह से स्वतन्त्र होगा, वहाँ उस का रूप प्राकृतिक सौन्दर्य, विलासिता से प्रारम्भ होगा। होमर के काव्य का प्रारम्भ वाल्मीकि से भिन्न होते हुए भी अवस्था मे एक सा है। घटनाओं का सामंजस्य वहां एक-सा ही हुआ है। इसलिये कविता के इतिहास का मूल क्रम मे भिन्न होते हुए भी रस ही माना जाना चाहिये। हिन्दी साहित्य के वीर काल ने उपयोगितावाद की दृष्टि से हिन्दी तथा देश का जितना उपकार किया है उतना अन्य किसी प्रकार से भी संभव दिखाई नहीं देता। वीर-काल एक तरह से बची-खुची शक्ति को एकत्र कर के सामूहिक रूप से दलित आर्य जाति में गौरव भर कर उसे प्राचीनता की ओर ले जाने वाला है। वीर-गाथा-काल की कविता राजाओं की प्रशंसा में लिखी होने पर भी जनसा-

धारण के विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। वह एक तरह से जनतंत्र के हृदय की कविता है। इसीलिये वह संस्कृत मे न लिखी जाकर उस उस प्रान्त की भाषा का रूप वेष्टन करके चली है। उस मे न तो शुद्ध छन्दोबन्धन है और न उसमे लक्षण शास्त्र की प्रक्रियाओं का समावेश। वह कविता हृदय की. टूटे हुए विजड़ित, दलित आर्यत्व की कविता है। चंदवरदाई और उसके बाद भाटों और चारणों ने जातीयता की जो कड़ी भारत के स्वातन्त्र्य को जीवित रखने के लिये जुडी रहने दी, उसमे कविता के रूप मे राजनीति, धर्मनीति और समाजनीति का प्राबल्य है, ऐसा मानना पड़ेगा। इसलिये उपयोगिता का रूप हमे वीर गाथा काल मे अधिक स्पष्ट लक्षित होता है।

पद्य के विषय मे भी दो एक बातें समझ लेनी चाहियें। संस्कृत मे प्रायः वर्णवृत्तों मे कविता करने का नियम है। बहुत कम मात्रिकवृत्तों मे काव्य प्रणयन हुआ है। सब से पहली बात जो हम हिन्दी कविता के प्रारम्भ मे पाते हैं वह मात्रिकवृत्तों मे काव्य-प्रणयन है। वर्णवृत्तों की अपेक्षा मात्रिकवृत्तों मे सरलता, एवं आसानी होती है। इसीलिये मात्रा गणना वाले छन्द घनाक्षरी, कवित्त, सवैया ही सर्वसाधारण के लिये उपयुक्त छन्द बन गये। यह पहले कहा जा चुका है कि वीर गाथा काल जनसाधारण का काल था। ऐसी अवस्था मे सर्वसाधारण की कविता के लिये छंद और रचना के बन्धनों का शिथिल होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त अन्त्यानुप्रास भी कविता के जनसाधारण से प्रादुर्भूत होने का एक कारण है। विशेष पढ़े-लिखे लोग कविता मे भाव, रस, चमत्कार देखते हैं; परन्तु जनसाधारण तो किसी भी प्रकार के शिथिल-अशिथिल छन्दोबन्धन में बंधी कविता चाहता है जिसमे तुक हो और जो कविता के नाम पर लोगों को उभार सके, उनमे जीवित रहने का रस फूँक सके। यह नियम कविता मे अब तक निभाया जारहा है। और वीर काल के बाद निर्गुण सम्प्रदाय के प्रवर्तक कबीर जैसों ने भी दोहों, पदों मे इसी नियम का पालन किया है।

वीर गाथा काल मे जो सबसे विचित्र बात दिखाई देती है वह है उस समय के इतिहास मे स्वावलम्बन का भाव। राजपूतों ने, चाहे उनमे नीति का कितना ही अभाव रहा हो, धर्म के लिये, देश के लिये जो बलिदान किये, साधारण से साधारण किसानों ने भी जितना त्याग दिखाया, वह सब कुछ--भारतवर्ष के उस काल का प्रतिनिधित्व--वीर गाथाओं में भरा पड़ा है। खेद है कि राजपूताने तथा देश के अन्य भागों की तत्कालीन कविता से इतिहास की अभी तक रचना नही हो सकी है। हमारा विश्वास है यदि उस समय की सभी प्रान्तीय भाषाओं की रचनाएँ संग्रह की जाएँ, तो बहुत कुछ तथ्य भाग उनमे से निकाला जा सकता है।

वीर-गाथा-काल के बाद हिन्दी के इतिहास मे निर्गुण आराधना का जो रूप दिखाई देता है कुछ थोड़ा सा उसका दिग्दर्शन भी हो जाना चाहिये। यह बात बिल्कुल स्वाभाविक है कि जब मनुष्य संघर्ष से ऊब जाता है, निराश हो जाता है तब ईश्वर की शरण मे पुकार लगाता है। वीर-गाथा-काल के संघर्ष और भारत के जातीय जीवन के भ्रष्ट हो जाने के बाद केवल एक ही आधार अवशिष्ट रह गया था। वह था ईश्वर-भक्ति द्वारा अपने दुःखों की पुकार ईश्वर को सुनाना। मुसलमान जाति अपनी विजय के साथ धर्मप्रचार के लिये जिन साधुओं को लेकर आई उनमे कुछ सूफी सन्त भी थे। उन्होंने निर्गुण-शाखा के प्रचार का आश्रय हिन्दी को बनाया। हिन्दी साहित्य मे अमीर खुसरो ने बहुत से दोहे, पहेलिया, कहमुकरनी, गीत, दोअर्थी आदि लिखे। उन्होंने खालकबारी नाम से एक पुस्तक भी लिखी, जिस मे फारसी, अरबी शब्दों के पर्यायवाची हिन्दी शब्द पद्य मे डाले। वली नाम का एक लेखक भी हुआ, उसने भी हिन्दी मे मुस्लिम संस्कृति का प्रचार किया। फिर मलिक मुहम्मद जायसी ने ठेठ हिन्दी मे पद्मावत लिखा। इसके कुछ समय बाद विष्णु-सम्प्रदाय, रामानुजसम्प्रदाय, मध्वसंप्रदाय और वल्लभसम्प्रदाय के आचार्यों ने भिन्न भिन्न देशों मे जन्म लेने पर भी अपने उपास्य देवों की प्रशंसा मे रचनाएँ

कीं। राम और कृष्ण अवतारी होने के कारण भारत के हिन्दू जीवन में शरीर, मे प्राण की तरह, घर कर गये। अब व्यास की तरह एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो कृष्ण-चरितामृत का पान उस समय के प्रत्येक भारतीय हिन्दू को करा कर उन्हें दासता के बन्धन मे भी जीवित रखने का प्रयत्न कर सके, और जो कृष्ण के पराक्रम, प्रेम, प्रतिभा, पौरुष का क्रमश: रस पिला कर उन्हें अर्धजाग्रत अवस्था से सततचेतन, मूक से वक्ता, निर्बल से सबल बना सके। अन्य नंददास आदि भक्त-कवियों के साथ सूरदास ने यह काम किया। सूरदास कब और कहाँ पैदा हुए, इसका अभी तक निर्णय नही हो पाया, परन्तु इतना निश्चित है कि उनकी प्राण-रूप कविता-रस का पान कर के आज भी हिन्दू जीवन संसार-मूर्धन्य हो सका है। आज भी कवि के प्राण साहित्य के सर्वोच्च शिखर पर खड़े होकर संसार को अपने सौन्दर्य की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। साहित्य का वह विशाल भाग, जो सूरदास ने अपनी संगीतमय कविता द्वारा हिन्दी को दिया, महान् सुसंस्कृत, सुरुचिपूर्ण कहे जाने के योग्य है। सूरदास ने न केवल कविता अपि तु संगीत, न केवल माधुर्य अपि तु पाण्डित्य के द्वारा हमे इस योग्य बना दिया कि हम उस एक मात्र विशाल आधार के सहारे खड़े होकर अपनी प्राचीन प्रतिमा, प्रवणता, औदार्य का रूप उस ब्रह्मास्वाद-सहोदर रस मंडित काव्य मे पा सके। जहाँ तक शुद्धरस, विशुद्ध भाव, उचित गांभीर्य, मोहक शैली का सम्बन्ध है वहाँ तक हम कह सकते हैं कि सूरदास विश्व के महाकवियों मे एक थे। परन्तु हिन्दी साहित्य को तो और भी उन्नत होना था। इसलिये उन के थोड़ी ही देर बाद निर्जीव समाज के प्राणों मे शक्ति संचार करने वाले तुलसीदास का जन्म हुआ। तुलसीदास महाकवि के साथ साथ, सुधारक, भक्त-शिरं मणि, चतुर, नरश्रेष्ठ थे। उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम से नियंत्रण, अनुशासन तथा कर्त्तव्यपरायणता का उपदेश लेकर भारत को रामचरित-मानस नाम का ग्रन्थ विभूति के तौर पर भेंट किया, जिसमे स्वार्थहीनता, भक्ति, मर्यादा, सुरुचि, सद्भावना, सौन्दर्य सभी का समावेश था।

मेरा विश्वास है यदि ये दो ही महाकवि हिन्दी को मिलते तो भी उसका साहित्य-कोश अक्षय ही माना जाता। हिन्दी साहित्य मे इसके बाद फिर एक प्रतिक्रिया हुई और भक्ति का स्थान विलासिता ने ले लिया। इस समय तक विदेशी जातियों के पैर भारत मे जम गये थे और उनमे सम्भावनानुसार विलासिता बढ़ने लगी थी। फलत:शृंगार--लौकिक शृगार--चमका और कृष्ण जो सूरदास के यहाॅ विश्वद्रष्टा के रूप में आये थे गोपियों के प्रेमी वन कर प्रकट हुए।

इस धारा ने हिन्दी को कविता की दृष्टि से दिया तो बहुत कुछ. परन्तु उसने यहाँ के कवियों, राजाओं और प्रजाजनों को स्त्रैण, एवं नारीमय वना दिया। उसने भारतीय चेतना को परोक्षवादी से प्रत्यक्षवादी और विलासप्रिय वना दिया। इसमे विहारी, सेनापति रसखान आदि हुए। भूषण आदि कवि इस युग की प्रतिक्रिया के रूप मे आये।

अन्ततो गत्वा--एक नवीन युग की स्थापना हुई जिसमें हरिश्चन्द्र ने आकर देश-प्रेम, जातीय-प्रेम तथा आर्य-गौरव की प्राण-प्रतिष्ठा की। और उस समय के वाद से लेकर आज तक हिन्दी साहित्य मे वतन-प्रतिवर्तन होता रहा है।

इसके वाद तो छायावाद, रहस्यवाद, प्रेमवाद, हालावाद, प्यालावाद, समाजवाद, प्रगतिशीलतावाद आदि कई वादों की हिन्दी मे बाढ़-सी आ गई।

हरिश्चन्द्र काल से लेकर अब तक हिन्दी साहित्य में वहुत से वादों का प्रारम्भ हो चुका है। ऐसा देख पड़ता है कि व्रजभापा के कलेवर का त्याग करते ही कविता ने सब प्रान्तों, सब प्रकार के विचारों का प्रतिनिधित्व वहन किया है। युग-प्रवर्तक भारतेन्दु के काल से--जिसका हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं--आर्य-गौरव, जाति-महिमा, समाज-सुधार की युग जागरूक हुआ। इसमें हरिश्चन्द्र के साथ प्रतापनारायण मिश्र, वालकृष्ण भट्ट, श्रीधर पाठक और नाथूराम शंकर शर्मा आदि कवि मुख्य

थे। अन्तिम श्रीधर पाठक और नाथूराम शंकर शर्मा तो एक तरह से सच्चे अर्थों मे कवि थे। इन्होंने भाषा के अनुसार विषयों मे भी परिवर्तन किये।

इसके बाद जिन कवियों ने हिन्दी को नवयुग प्रदान किया उनमे अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त का स्थान प्रमुख है। उपाध्याय जी ने गद्य और पद्य के द्वारा हिन्दी की रूप रेखा का निर्धारण किया। प्रिय-प्रवास' आप का एक महाकाव्य है जिसमे कृष्ण को नए ढंग से और नए रूप मे पेश किया गया है। हिन्दी मे इस समय तक भी जो सर्वप्रिय और लोकमान्य कवि माने जाते है उनमे बाबू मैथिलीशरण गुप्त का स्थान अद्वितीय है। गुप्तजी ने आचार्य द्विवेदी जी की प्रेरणा एवं अपनी अक्षुण्ण प्रतिभा से कविता को बहुत से रत्न भेंट किये है। 'यशोधरा', 'साकेत' आपके दो उज्ज्वल हीरक हैं जो न केवल कविता की दृष्टि से ही अपि तु अमर साहित्य के विचार से भी अपना महत्त्व-पूर्ण स्थान रखते हैं। हिन्दी मे सूरदास और तुलसीदास के बाद खड़ी बोली ने जिस एक महाकवि को जन्म दिया है वह कवि गुप्त जी है, ऐसा हमारा मत है।

सर्वश्री जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और सुमित्रा-नन्दन पन्त--ये तीनों भिन्न दिशा और रूप के कवि होते हुए भी रहस्य-वाद और छायावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। प्रसाद जी माधुर्य, गाम्भीर्य, सुरुचि और रहस्य के कवि थे। इन्होंने रवीन्द्रबाबू की तरह साहित्य के सभी क्षेत्रों का शृंगार किया है। 'आँसू' और 'कामायनी' आप के दो अमूल्य ग्रन्थ हैं जो साहित्य की अक्षय निधि कहे जा सकते हैं। निराला जी गहन दार्शनिकता, मुक्त-बन्धन, असकुंचित दृष्टि के विवेचक कवि हैं जिन्होंने कविता के क्षेत्र को उज्ज्वल किया है। और पन्त जी तो प्रकृति के प्रतिमूर्त कवि है। मधुरता, कोमलता, सरलता का

जितना सुन्दर समन्वय इनकी कविता मे हुआ है उतना और किसी कवि की कविता मे नहीं पाया जाता।

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी भाषा मे जो बेजोड़ वाक्य-सौन्दर्य, अर्थगाम्भीर्य होता है वह इनकी अपनी शैली है। चतुर्वेदी जी पत्रकार है किन्तु इतना होते भी इनकी भाषा मे भावप्रवणता की मात्रा अधिक रहती है। इसी शैली के अलमस्त कवि श्रीबालकृष्ण शर्म्मा भी है। इनमे उफान का तरह कविता का स्रोत बहता है। राष्ट्र-जागरण मे जो और कवि इस नए मार्ग मे नए वैशिष्ट्य के साथ आये हैं उनमे सियारामशरण साधुता, मर्यादा और आख्यान की दृष्टि से, रामनरेश त्रिपाठी भावावेशता और उपदेश की दृष्टि से, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द उग्रता, वर्णन-वैचित्र्य, और स्फूर्ति की दृष्टि से मुख्य हैं।

उदयशंकर भट्ट रूढ़िवाद को ठोकर मार तथा बुद्धिवाद की पताका लेकर साहित्य-क्षेत्र मे प्रविष्ट हुए हैं। भाग्यवाद मे उनका विश्वास नहीं। मनुष्य स्वयं अपना विधाता है, जीवन मे सुख और दुःख का अस्तित्व कर्म-परिणाम से नहीं वरन मनुष्य के अपने कारण से है, ऐसी उनकी धारणा है। कर्मवाद का आश्रय लेना उनके मत मे दलितों को ऊपर उठने से रोकना है, उनके पतन को न्याय्य सिद्ध करने का आध्यात्महीन प्रयत्न करना है। भट्ट जी की कविता मे हमे उग्र मौलिकता, विद्रोह तथा नग्न यथार्थवाद के दर्शन होते हैं।

महादेवी वर्मा का स्थान इन सब से पृथक् है। श्रीमती वर्मा की कविता पीड़ा, सौन्दर्य तथा परोक्ष की सुन्दर उपासना है। इनमे रहस्य का जो रूप देख पड़ता है वह अपने मे पूर्ण होते हुए भी सर्वथा अतृप्त और अशान्त है।

रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा दोनों अज्ञात प्रेम के गायक हैं। इनकी कल्पना अनुभूति के स्तर पर प्रकट होती है।

विषय-सूची

प्राचीनकाल

हरिकृष्ण प्रेमी वेदनावादी कवि हैं। पिछले दिनों से आप समाज़वाद के ऊपर भी बहुत कुछ लिख रहे हैं।

हरिवंशराय बच्चन हिन्दी के कवियों मे अपना सर्वथा पृथक् स्थान रखते हैं। आप ने उमर खैय्याम की मधुशाला का यथार्थ प्रतिनिधित्व हिन्दी मे किया है। अभी हाल में आपने जो कविताएँ लिखी हैं उनमे जीवन का रूप भिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त और भी कवि है जैसे मोहनलाल महतो, दिनकर, जनार्दनप्रसाद झा द्विज, अंचल, नीलकंठ तिवारी, अज्ञेय, अश्क, सोहनलाल द्विवेदी आदि। इस कविगण ने हिन्दी-साहित्य को विविधता, सौन्दर्य, यथार्थता से विभूषित किया है!

संग्रह के सम्बन्ध में—

इस संग्रह मे हम ने निम्न बातों की ओर ध्यान रखा है:—

(क) प्रतिनिधित्व का यथाशक्ति विचार करते हुए भी उपयोगिता को प्रधान स्थान दिया है।

(ख) ऐसी कविताएँ संग्रह मे दी गई हैं जिनसे बालकों-बालिकाओं को अपने चरित्र-निर्माण में सहायता मिले, और जो रीति-काल तथा अन्य काल के श्रृङ्गार दोष से मुक्त हों तथा

(ग) योग्यता के अनुसार सरस और सरल हों।

हमने संग्रह मे इस बात का भी ध्यान रखा है कि सांप्रदायिक मनोवृत्ति को दूषित करने वाली रचनाओं को, जहां तक हो सके, स्थान न दिया जाय और हमें विश्वास है कि इस दृष्टि से हम अपने प्रयास मे सर्वथा सफल हुए हैं। हमारा विश्वास है कि नवयुग निर्माण के लिये जहां तक सम्भव हो इस विषैले वातावरण से छात्रों और छात्राओं को बचाया जाय। हम मानते है प्राचीन अच्छा है, पर सभी प्राचीन अच्छा है, उपादेय है, ऐसा मानने मे हमें आपत्ति है। नवीन भारत के लिये हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि सभी संस्कृतियों के सुन्दर समन्वय द्वारा

यदि हम ऐसे बालक तैयार कर सकें जो राष्ट्र के सच्चे प्रतिनिधि, देश के सच्चे पुत्र बन सकें तो हमारा साहित्य सच्चे अर्थों में देश की सेवा कर सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास है। इसीलिए इच्छा रहते हुए भी हम ने कविवर भूषण को स्थान नहीं दिया।

इसके अतिरिक्त हमने संग्रह के लिये कवियों की प्रायः सभी रचनाएँ पढ़कर उन को उपादेयता की दृष्टि से चुना है, जिस से कवि की आत्मा और शैली का ठीक ठीक प्रतिनिधित्व हो सके। इसलिये पाठक देखेंगे कि एक कवि की प्रायः सभी पुस्तकों के उद्धरण इस संग्रह मे आ गये हैं।

कवियों के क्रम मे हमने जन्म-संवत् का ध्यान रखा है ताकि रचना-काल के अनुसार कवि की मर्यादा बाँधी जा सके।

विद्यार्थियों की सुविधा के लिये अन्त मे एक शब्दकोश भी जोड़ दिया गया है। कबीर, सूर और तुलसी की कविता का शब्दार्थसंग्रह उनकी कविता के अपेक्षाकृत क्लिष्ट होने के कारण विस्तार से देने का यत्न किया गया है।

अन्त मे, इस संग्रह में आये हुए उन सब आधुनिक कवियों का मैं आभार मानता हूँ जिन्होंने मुझे अपनी कविता चुन लेने की आज्ञा प्रदान की है।

मैं पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी संस्कृति बोर्ड के प्रतिष्ठित सदस्यों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने इस संग्रह के लिये समय-समय पर मुझे अमूल्य सम्मति प्रदान करने की कृपा की है।

लाहौर,
१ जून, १९४०

विनीत—
—सरनदास भनोत

———

हुआ। हिन्दू लोग उन के शव को आग की भेंट करना चाहते थे और मुसलमान मट्टी की। अन्त में जब शव के ऊपर से चादर उठाकर देखा गया तो वहां मुट्ठी भर फूलों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। आधे फूल मुसलमानों ने ले लिए और आधे हिन्दुओं ने। हिन्दुओं ने उन्हें जला कर उन की राख पर समाधि बना दी। यही स्थान काशी में कबीर चौरा के नाम से प्रसिद्ध है। मुसलमानों ने आधे पर मघहर में कबर बना दी। कबीरपन्थी लोग इन दोनों स्थानों की समान रूप से पूजा करते हैं।

साखी

तेरा सांई तुज्झ में ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर फिर ढूंढे घास॥
जा कारण जग ढूंढिया सो तो घट ही माहिं।
परदा दिया भरम का ता तें सूझै नाहि॥
ज्यों तिल माही तेल है ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में जागि सकै ते जागि॥
आदि नाम पारस अहै मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया छूटा बंधन मोह॥
सभी रसायन हम करी नहीं नामसम कोय।
रंचक घट में संचरै सब तन कंचन होय॥
जबहिं नाम हिरदे धरा भया पाप का नास।
मानों चिनगी आग की परी पुरानी घास॥
नाम बिना बेकाम है छप्पन कोटि विलास।
का इन्द्रासन बैठिबो का बैकुण्ठ निवास॥
लूट सकै तो लूटि ले सत्त नाम की लूटि।

साधू ऐसा चाहिए जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाय॥
छीर रूप सत नाम है नीर रूप व्यवहार।
हंस रूप कोइ साध है ततका छाननहार॥
जब लग नाता जगत का तब लग भक्ति न होय।
नाता तोड़ै हरि भजै भक्त कहावै सोय॥
कामी क्रोधी लालची इनतें भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ सूरमा जाति बरन कुल खोय॥
जल ज्यों प्यारा माछरी लोभी प्यारा दाम।
माता प्यारा बालका भक्त पियारा नाम॥
जब लगि भक्ति सकाम है, तब लगि निस्फल सेव।
कह कबीर वह क्यों मिलै, निःकामी निज देव॥
भक्ति गेंद चौगान की भावै कोइ लै जाय।
कह कबीर कछु भेद नहिं कहा रंक कह राय॥
लगी लगन छूटै नहीं जीभ चोंच जरि जाय।
मीठा कहा अँगार में जाहि चकोर चवाय॥

प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहिं रुचै सीस देइ लै जाय॥
प्रेम पियाला जो पियै सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सकै नाम प्रेम का लेय॥
छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावै सोय॥
जब मैं था तब गुरु नहीं अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी तामैं दो न समाहिं॥
जा घट प्रेम न सँचरै सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहार की सांस लेत बिनु प्रान॥
पीया चाहै प्रेम रस राखा चाहै मान।

एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान ॥
कबिरा प्याला प्रेम का अंतर लिया लगाय ।
रोम रोम में रमि रहा और अमल क्या खाय ॥
हरि से तू जनि हेत कर कर हरिजन से हेत ।
माल मुलुक हरि देत हैं हरिजन हरिहिं देत ॥

दुख में सुमिरन सब करै सुख में करै न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करै तो दुख काहे को होय ॥
सुख में सुमिरन ना किया दुख में कीया याद ।
कह कबीर ता दास की कौन सुनै फिरियाद ॥
सुमिरन सों मन लाइए जैसे नाद कुरंग ।
कहै कबीर बिसरै नहीं प्रान तजै तेहि संग ॥
माला फेरत जुग भया फिरा न मन का फेर ।
कर का मनका डारि दे मन का मनका फेर ॥
कबिरा माला मनहिं की और सँसारी भेख ।
माला फेरे हरि मिलैं गले रहँट के देख ॥
माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माहिं ।
मनुवां तो दहुँ दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं ॥

साधू गाठि न बाँधई उदर समाता लेय ।
आगे पाछे हरि खड़े जब मागे तब देय ॥
सांई इतना दीजिए जा में कुटुंब समाय ।
मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाय ॥

क्या मुख लै बिनती करौं लाज आवत है मोहिं ।
तुम देखत औगुन करौं कैसे भावों तोहिं ॥
मैं अपराधी जन्म का नख-सिख भरा विकार ।
तुम दाता दुखभंजना मेरी करो उबार ॥

अवगुन मेरे बाप जी बकस गरीब-निवाज ।
जो मैं पूत कपूत हौं तऊ पिता को लाज ॥
औगुन किए तो बहु किए करत न मानी हार ।
भावैं बन्दा बकसिए भावैं गरदन मार ॥
अन्तरजामी एक तुम, आतम के आधार ।
जो तुम छोड़ौ हाथ तो, कौन उतारे पार ॥
मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर ।
तेरा तुझ को सौंपते क्या लागत है मोर ॥
तुम तो समरथ साँइयाँ दृढ़ करि पकरो बाँहि ।
धुरही लै पहुँचाइयो जनि छाँड़ो मग माहिं ॥
पतिवरता पति को भजै और न आन सुहाय ।
सिंह बचा जो लँघना तो भी घास न खाय ॥

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े काके लागौं पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय ॥
बलिहारी गुरु आपने घड़ि घड़ि सौ सौ बार ।
मानुष से देवत किया करत न लागी बार ॥
सब धरती कागद करूँ लेखनी सब बनराय ।
सात समुँद की मसि करूँ गुरु गुन लिखा न जाय ॥
कबिरा ते नर अन्ध हैं गुरु को कहते और ।
हरि रूठै गुरु ठौर है गुरु रूठे नहिं ठौर ॥
कबिरा हरि के रूठते गुरु के सरने जाय ।
कह कबीर गुरु रूठते हरि नहिं होत सहाय ॥
वस्तु कहीं ढूँढै कहीं केहि विधि आवै हाथ ।
कह कबीर तब पाइये भेदी लीजे साथ ॥

सब बन तो चंदन नहीं सूरा का दल नाहिं ।
सब समुद्र मोती नहीं यों साधू जग माहिं ॥

साध कहावन कठिन है लम्बा पेड़ खजूर।
चढ़ै तो चाखे प्रेम रस गिरे तो चकना चूर॥
गाँठी दाम न बाँधई नहि नारी सों नेह।
कह कबीर ता साधकी हम चरनन की खेह॥
वृच्छ कबहुं नहिं फल भखै नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने साधुन धरा सरीर॥
नहिं शीतल है चँद्रमा हिम नहिं शीतल होय।
कबिरा शीतल संत जन नाम सनेही सोय॥
जाति न पूछो साध की पूछि लीजिए ज्ञान।
मोल करो तरवार का पड़ी रहन दो म्यान॥
साधू भूखा भाव का धन का भूखा नाहि।
धन का भूका जो फिरै सो तो साधू नाहिं॥
सोना सज्जन साधु जन टूटि जुरै सौ बार।
दुर्जन कुम्भ कुम्हार के एकै धका दरार॥
साधू भया तो क्या हुआ माला पहिरी चार।
बाहर भेस बनाइया भीतर भरी अँगार॥
केसन कहा बिगारिया जो मूँडौ सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूँडिये जा में विषै विकार॥
कबिरा संगत साध की हरै और की ब्याधि।
संगत बुरी असाध की आठो पहर उपाधि॥
कबिरा संगत साध की ज्यों गंधी का बास।
जो कछु गंधी दे नही तौ भी बास सुबास॥
मथुरा भावैं द्वारिका भावैं जो जगनाथ।
साध संगति हरि भजन बिन कछु न आवै हाथ॥

कबिरा गर्व न कीजिए काल गहे कर केस।
न जानों कित मारि है क्या घर क्या परदेस॥

पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात॥
रात गँवाई सोय कर दिवस गँवाया खाय।
हीरा जनम अमोल था कौड़ी बदले जाय॥
काल्य करै सो आज कर आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी बहुरि करेगा कब्ब?
माटी कहै कुम्हार को तूँ क्यों रूँदै मोहिं॥
इक दिन ऐसा होयगा मैं रूँदूँगी तोहिं॥
दुर्लभ मानुष जनम है देह न बारम्बार।
तरवर ज्यों पत्ता झड़ै बहुरि न लागै डार॥
आए हैं सो जायँगे राजा रंक फकीर।
एक सिंघासन चढ़ि चले इक बँधि जात जंजीर॥
इक दिन ऐसा होयगा कोउ काहू को नाहिं।
घर की नारी को कहै तन की नारी नाहिं॥
दस द्वारे का पींजरा तामें पंछी पौन।
रहिबे को आचरज है जाय तो अचरज कौन॥
जो तो को काँटा बुवै ताहि बोव तू फूल।
तोहि फूल को फूल है वाको है तिरसूल॥
दुर्बल को न सताइए जाकी मोटी हाय॥
बिना जीव की स्वास से लोह भसम है जाय।
ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय॥
औरन को सीतल करै आपहुँ सीतल होय॥
आवत गारी एक है उलटत होय अनेक।
कह कबीर नहिं उलटिए वही एक की एक॥
गारी ही सों ऊपजै कलह कष्ट औ मीच।
हारि चलै सो साधु है लागि मरै सो नीच॥
जैसा अनजल खाइए तैसा ही मन होय।

जैसा पानी पीजिए तैसी बानी सोय ॥
मॉगन मरन समान है मति कोइ मॉगो भीख ।
मॉगन ते मरना भला यह सत-गुरु की सीख ॥
उदर समाता अन्न लै तनहिं समाता चीर ।
अधिकहि संग्रह न करै ताका नाम फकीर ॥
मधुर वचन है औषधी कटुक बचन है तीर ।
स्रवन द्वार ह्वै संचरै सालै सकल सरीर ॥

बोलत ही पहिचानिए साहु चोर को घाट ।
अंतर की करनी सबै निकसै मुख की बाट ॥
करना था तो क्यों रहा अब करि क्यों पछिताय ।
बोवे पेड़ बबूल का आम कहाँ तें खाय ॥
न्हाय धोय क्या भया जो मन मैल न जाय ।
मीन सदा जल में रहै धोय बास न जाय ॥
पंडित और मसालची दोनों सूझै नाहिं ।
औरन को कर चॉदना आप अँधेरे माहि ॥

कुटिल बचन सबसे बुरा जारि करै तन छार ।
साध बचन जलरूप है बरसै अमृत धार ॥

आसा एक जो नाम की दूजी आस निरास ।
पानी माहीं घर करै सो भी मरै पियास ॥
कबिरा सोया क्या करै उठि न भजै भगवान ।
जम जब घर लै जायँगे पड़ा रहेगा म्यान ॥
नींद निसानी मीच की उठ्ठ कबीरा जाग ।
और रसायन छॉडि कै नाम रसायन लाग ॥

तिनका कबहुँ न निंदिए जो पाँवन तर होय ।
कबहुँ उडि आखिन परै पीर घनेरी होय ॥

दोष पराया देखि करि चलै हसंत हसंत।
अपने याद न आवई जाको आदि न अंत॥

सील छिमा जब ऊपजै अलख दृष्टि तब होय।
बिना सील पहुँचै नहीं लाख कथै जो कोय॥
सीलवंत सबतें बड़ा सब रतनन की खानि।
तीन लोक की संपदा रही सील में आनि॥
ज्ञानी ध्यानी संजमी दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत हैं सीलवंत कोइ एक॥
सुखका सागर सील है कोइ न पावै थाह।
सब्द बिना साधू नहीं द्रव्य बिना नहिं साह॥

छिमा बड़न को चाहिए छोटन को उत्पात।
कहा विष्णु को घटि गयो जो भृगु मारी लात॥
जहां दया तहँ धर्म है जहाँ लोभ तहँ पाप।
जहां क्रोध तहँ काल है जहाँ छिमा तहँ आप॥
करगस सम दुर्जन बचन रहै संत जन टारि।
बिजुली परै समुद्र में कहा सकैगी जारी॥
खोद खाद धरती सहै काट कूट बनराय।
कुटिल बचन साधू सहै और से सहा न जाय॥

जौं जल बाढ़ै नाव में घर में बाढ़ै दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए यही सज्जन को काम॥
हाथ बड़ा हरि भजन कर द्रव्य बड़ा कछु देय।
अक्ल बड़ी उपकार कर जीवन का फल येह॥
देह धरे का गुन यही देह देहु कछु देहु।
बहुरि न देही पाइए अब की देहु सो देहु॥

सत ही में सत बाँटई रोटी में तें टूक।
कह कबीर ता दासको कबहुँ न आवै चूक॥

चाह गई चिंता मिटी, मनुवाँ बेपरवाह।
जिन को कछू न चाहिए सोइ साहंसाह॥
माँगन गए सो मरि रहे मरे सो मागँन जाहि।
तिन से पहले वे मरे होत करत जो नाहिं॥
गोधन, गजधन बाजिधन और रतनधन खान।
जब आवै संतोष धन सब धन धूरि समान॥
मरि जाऊँ मांगूं नहीं अपने तन के काज।
परमारथ के कारने मोहिं न आवै लाज॥

धीरे धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय।
माली सींचै सौ घड़ा ऋतु आए फल होय॥
कबिरा धीरज के धरे हाथी मन भर खाय।
टूक एक के कारने स्वान घरै घर जाय।

जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठि।
मैं बपुरा बूड़न डरा रहा किनारे बैठि॥
मारग चलते जो गिरै वाको नाही दोस।
कह कबीर बैठा रहै ता सिर करडे कोस॥

दीन लखे मुख सबन को दीनहिं लखै न कोय।
भली बिचारी दीनता नरहुं देवता होय॥

ऊँचे पानी ना टिकै नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिवै ऊँचा प्यासा जाय॥
सब तें लघुताई भली लघुता ते सब होय।
जस दुतिया को चंद्रमा सीस नवै सब कोय॥

दया भाव हिरदे नहीं ज्ञान कथै बेहद्द ।
ते नर नरकहिं जाहिंगे सुनि सुनि साखी सब्द ॥
दया कौन पर कीजिए का पर निर्दय होय ।
सांई के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय ॥

सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदे साच है ता हिरदे गुरु आप ॥
साईं से साचा रहै सांईं सांच सुहाय ।
भॉवै लंबे केस रख भॉवै घोट मुँडाय ॥
साचे स्राप न लागई सांचे काल न खाय ।
साचे को साचा मिले सांचे माहिं समाय ॥
साचे कोई न पतीजई झूठे जग पतियाय ।
गली गली गोरस फिरे मदिरा बैठि बिकाय ॥

मन के मते न चालिए मन के मते अनेक ।
जो मन पर असवार है सो साधू कोइ एक ॥

ऐसी गति संसार की ज्यों गाडर की ठाट ।
एक पड़ा जेहि गाड़ में सबै जॉय तेहि बाट ॥
कबिरा सोई पीर है जो जानै पर पीर ।
जो पर पीर न जानई सो काफिर बेपीर ॥
कबिरा मैं तो तब डरौं जो मुझ ही में होय ।
मीच बुढ़ापा आपदा सब काहू में सोय ॥

सुख के माथ सिलि परै नाम हिरदे से जाय ।
बलिहारी वा दुःख की पल पल नाम रटाय ॥

कर बहियाँ बल आपनी छाँट बिरानी आस ।
जाके आँगन नदी है सो कस मरै पियास ॥

एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय।
जो तू सेवै मूल को फूलै फलै अघाय॥
प्रेम प्रीत से जो मिलैं तासों मिलिए धाय।
अंतर राखै जो मिलैं तासों मिलै बलाय॥
मो में इतनी सकत कहँ गाओं गला पसार।
बंदे को इतनी घनी पड़ा रहै दरबार॥

शब्द

नय

बीत गये दिन भजन बिना रे।
बाल अवस्था खेल गँवायो, जब जवानी तब मान किया रे॥
लाहे कारन मूल गँवायो, अजहुँ न मिटि तेरे मन की तृषा रे।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, पार उतरि गये सन्त जना रे॥

सद्गुरु-माहात्म्य

साधो सो सतगुरु मोहिं भावै।
सत्त नाम का भर भर प्याला आप पिवै मोहिं प्यावै॥
मेले जाय न महँत कहावै पूजा भेंट न लावै।
परदा दूर करै आँखिन का निज दरसन दिखलावै॥
जाके दरसन साहब दरसैं अनहद शब्द सुनावै।
माया के सुख दुख कर जानै संग न सुपन चलावै॥
निसि दिन सत-संगति में राचै शब्द में सुरत समावै।
कह कबीर ताको भय नाहीं, निरभय पद परसावै॥

त-लक्षण

हरिजन हंस दशा लिए डोलैं। निर्मल नाम चुनि चुनी बोलैं॥
मुक्ताहल लिए चोंच लुभावैं। मौन रहैं कै हरि-गुन गावैं॥
मान सरोवर तट के बासी। राम-चरण चित अन्त उदासी॥
काग कुबुद्धि निकट नहिं आवै। प्रति दिन हंसा दरसन पावै॥

दया भाव हिरदे नहीं ज्ञान कथै बेहद्द ।
ते नर नरकहिं जाहिंगे सुनि सुनि साखी सब्द ।
दया कौन पर कीजिए का पर निर्दय होय ।
सांई के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय ।

सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदे सांच है ता हिरदे गुरु आप ॥
सांई से साचा रहै साईं सांच सुहाय ।
भॉवै लंबे केस रख भॉवै घोट मुँडाय ॥
साचे स्राप न लागई सांचे काल न खाय ।
साचे को सांचा मिले साचे माहिं समाय ॥
सांचे कोई न पतीजई झूठे जग पतियाय ।
गली गली गोरस फिरे मदिरा बैठि बिकाय ॥

मन के मते न चालिए मन के मते अनेक ।
जो मन पर असवार है सो साधू कोइ एक ॥

ऐसी गति संसार की ज्यों गाडर की ठाट ।
एक पड़ा जेहि गाड़ में सबै जॉय तेहि बाट ॥
कबिरा सोई पीर है जो जानै पर पीर ।
जो पर पीर न जानई सो काफिर बेपीर ॥
कबिरा मैं तो तब डरौं जो मुझ ही में होय ।
मीच बुढ़ापा आपदा सब काहू में सोय ॥

सुख के माथ सिलि परै नाम हिरदे से जाय ।
बलिहारी वा दुःख की पल पल नाम रटाय ॥

करु बहियाँ बल आपनी छाँड बिरानी आस ।
जाके आँगन नदी है सो कस मरै पियास ॥

अनजाने को नरक सरग है, हरि जाने को नाही।
जेहि डर को सब लोग डरत हैं, सो डर हमरे नाहीं ॥
पाप पुराय की संका नाही, नरक सरग नहिं जाहीं।
कहै कबीर सुनो हो संतो, जहँ पद तहाँ समाहीं ॥

कर्म-गति

करम गति टारे नाहि टरी।
मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को बन में बिपति परी ॥
कहँ वह फंद कहाँ वह पारधि कहँ वह मिरगचरी।
सीया को हरि लैगो रावन सुवरन लंक जरी ॥
नीच हाथ हरिचंद बिकाने बलि पाताल धरी।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप गिरिगिट जोन परी ॥
पाडव जिनके आपु सारथी तिन पर बिपति परी।
दुरजोधन को गरब घटायो जदुकुल नास करी।
राहु केतु औ भानु चंद्रमा बिधी सँजोग परी।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो होनी हो के रही ॥

उद्बोधन

(१)

ना जाने तेरा साहेब कैसा है।
मसजिद भीतर मुला पुकारै क्या साहिब तेरा बहिरा है।
चिउँटी के पग नेवर बाजै सो भी साहब सुनता है ॥
पंडित होय के आसन मारै लंबी माला जपता है।
अंतर तेरे कपट कतरनी सो भी साहब लखता है ॥
ऊँचा नीचा महल बनाया गहरी नेव जमाता है।
चलने का मनसूबा नाहीं रहने को मन करता है ॥
कौड़ी कौड़ी माया जोड़ी गाड़ि जमीं में धरता है।
जेहि लहना है सो लै जैहै पापी बहि बहि मरता है ॥

नीर छीर को करै निबेरा । कहै कबीर सोई जन मेरा ॥

सील सँतोख ते सब्द जा मुख वसे, संतजन जौहरी साँच मानी ॥
वदन विकसित रहै ख्याल आनन्द में, अधर में, मधुर मुसकात बानी ।
साँच डोले नहीं झूठ बोलै नहीं, सुरत में सुमति सोइ श्रेष्ठ ज्ञानी ॥
कहत हौं ज्ञान पुकारि सबन सों, देत उपदेस दिल दर्द जानी ।
ज्ञान को पूर है रहनि को सूर है, दया की भक्ति दिल माहिं ठानी ।
ओर ते छोर लौं एक रस रहत है, ऐस जन जगत में विरले प्रानी ।
ठग बट-मार संसार में भरि रहे, हंस की चाल कहँ काग जानी ।
चपलता चतुर हैं बने बहु चीकने, बात में ठीक पै कपट ठानी ।
कहा तिनसों कहौं दया जिनके नहीं, घात बहुतै करें बकुल ध्यानी ।
दुर्मती जीव की दुविध छूटै नहीं, जन्मजन्मांत्र पड़ नर्क खानी ।
काग कुबुद्धि सूबुद्धि पावै कहाँ, कठिन कठिन कट्ठोर विकराल बानी ।
अगिन के पुंज हैं सितलता तन नही, अमृत औ विष दोउ एक सानी ।
कहा साखी कहे सुमति जागी नहीं, साँच की चाल विन धूर धनी ।
सुकृति और सत्तकी चाल सॉची सही, काग बक अधम की कोन खानी ।
कह कब्बीर कोउ सुघर जन जौहरी, सदा सब धान पय नीर छानी ॥

जीवन की यथार्थता—

साधो यह तन ठाठ तँबूरे का ।
ऐंचत तार मरोरत खूँटी निकसत राग हजूर का ।
टूटे तार बिखरि गई खूँटी हो गया धूरमधूरे का ।
या देही का गरब न कीजै उड़ि हंस तँबूरे का ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो अगम पंथ कोई सूरे का ।

ज्ञान-महिमा—

पंडित, सोधि कहहु समुझाई, जाते आवागमन नसाई ।
अर्थ धर्म औ काम मोच्छ फल, कौन दिशा बस भाई ॥
उत्तर दक्खिन पूरब पच्छिम, सरग पतालहिं माहे ।
बिन गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नरक जात धौं काहे ॥

अनजाने को नरक सरग है, हरि जाने को नाहीं।
जेहि डर को सब लोग डरत हैं, सो डर हमरे नाहीं॥
पाप पुण्य की संका नाही, नरक सरग नहिं जाहीं।
कहै कबीर सुनो हो संतो, जहँ पद तहाँ समाहीं॥

कर्म-गति

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को वन में बिपति परी॥
कहँ वह फंद कहाँ वह पारधि कहँ वह मिरगचरी।
सीया को हरि लैगो रावन सुवरन लंक जरी॥
नीच हाथ हरिचंद बिकाने वलि पाताल धरी।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप गिरिगिट जोन परी॥
पांडव जिनके आपु सारथी तिन पर विपति परी।
दुरजोधन को गरब घटायो जदुकुल नास करी।
राहु केतु औ भानु चंद्रमा विधी सँजोग परी।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो होनी हो के रही॥

उद्बोधन

(१)

ना जाने तेरा साहेब कैसा है।
मसजिद भीतर मुला पुकारै क्या साहेब तेरा बहिरा है।
चिउँटी के पग नेवर बाजै सो भी साहब सुनता है॥
पंडित होय के आसन मारै लंबी माला जपता है।
अंतर तेरे कपट कतरनी सो भी साहब लखता है॥
ऊँचा नीचा महल बनाया गहरी नेव जमाता है।
चलने का मनसूबा नाहीं रहने को मन करता है॥
कौड़ी कौड़ी माया जोड़ी गाड़ि जमी में धरता है।
जेहि लहना है सो लै जैहै पापी वहि वहि मरता है॥

(३)

मन तू मानत क्यों न मना रे ।

कौन कहन को कौन सुनन को दूजा कौन जना रे ॥
दरपन में प्रतिबिंब जो भासे आप चहूँ दिसि सोई ।
दुबिधा मिटै एक जब होवै तौ लखि पावै कोई ॥
जैसे जल ते हेम बनत है हेम घूम जल होई ।
तैसे या तत वाहू तत सो फिर यह अरु वह सोई ॥
जो समझै तो खरी कहन है ना समझै तो खोटी ।
कह कबीर दोऊ पख त्यागै ताकी मति है मोटी ॥

(४)

ना मैं धरमी नाहि अधरमी ना मैं जती न कामी हो ।
ना मैं कहता ना मैं सुनता ना मैं सेवक स्वामी हो ॥
ना मैं बँधा ना मैं मुक्ता ना निरबँध सरबंगी हो ।
ना काहू से न्यारा हूआ ना काहू को संगी हो ॥
ना हम नरक लोक को जाते ना हम सरग सिधारे हो ।
सब ही कर्म हमारा, कीया हम कर्मन ते न्यारे हो ॥
या मत को कोई बिरला बूझै सो सतगुरु हो बैठे हो ।
मत कबीर काहू को थापे मत काहू को मेटे हो ॥

(५)

साधो सतगुरु अलख लखाया आप आप दरसाया ।
बीज मध्य ज्यों बृच्छा दरसे बृच्छा मद्धे छाया ॥
परमातम में आतम जैसे आतम मद्धे माया ।
आपहि बीज बृच्छ अंकूरा आप फूल फल छाया ॥
आपहि सूर किरन परकासा आपै ब्रह्म जिव माया ।

(६)

हम सब माहिं सकल हम माहीं । हम थें और दूसरा नाहीं ।
तीन लोक में हमरा पसारा । आवागमन सब खेल हमारा ॥

खट दरसन कहियत हम भेखा। हमहिं अतीत रूप नहिं रेखा।
हमहीं आए कबीर कहावा। हमहीं अपना आप लखावा॥

सूरदास

सूरदास हमारे हिन्दी साहित्य के एक अनूठे कविरत्न हैं। उन्हें पाकर हिन्दी कृतार्थ हो गई है, वह इस नवयुग की किसी भी ऊँची और समृद्ध भाषा के साथ अपना माथा ऊँचा करके बैठ सकती है। सूरदास की भाषा ब्रजभाषा है और विषय है वात्सल्य, शृङ्गार और शान्त रस। और उसके लिये पात्र ढूंढे हैं उन्होंने—यशोदा-कृष्ण और कृष्ण-राधा। प्रकृति ने कितनी सुन्दर सामग्री जुटाई है। उस पर जो उनकी सुलझी हुई कूंची ने काम किया है उसकी हमें कहीं उपमा नहीं मिलती। उनके पदों की स्वरमाधुरी, भाषा का लोच, विषय की सजीविता और सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—ये सब आश्चर्य की वस्तु हैं। श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ लीलाओं का जैसा चित्रण उन्होंने किया है, उससे ऐसा जान पड़ता है, वे उनमें डूब कर स्वयं कभी कृष्ण हो गये हैं और कभी यशोदा। कवि होने के लिये कितनी तल्लीनता और तन्मयता चाहिये, यदि किसी को इसकी अनुभूति प्राप्त करनी हो तो उसे सूर की कविता का अध्ययन करना चाहिए। उनका शृंगार अत्यन्त पवित्र है, वासना उससे छू नहीं गई। उससे उनके कृष्ण के प्रति भक्ति और अनुराग का उद्रेक होता है। श्रीमद्भागवत का आश्रय लेकर उन्हों ने यह सब रचना की है किन्तु श्रीमद्भागवत में भी वह बात नहीं जो उनकी रचना में मिलती है। उनकी रचना को श्रीमद्भागवत का एक विशुद्ध संस्करण समझना चाहिए। भ्रमर-गीत श्रीमद्भागवत में भी है और उनकी रचना 'सूरसागर' में भी। दोनों एक दूसरे से उत्तम हैं किन्तु भागवत का शृंगार वासना की कुछ लाञ्छना लिए हुए है, उससे आजकल का तर्ककुशल व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं होता,

किन्तु सूरदास की रचना इस लाञ्छना से बिल्कुल विमुक्त है, उसमे किसी भी ऐसे तर्क का अवकाश नही।

भगवान् के भक्त को किसी से लेना देना नही होता, उसका इष्टदेव ही उस का सर्वधन होता है, वह उसीके व्यवसाय मे अपने आप को खो देता है, उसे कभी अपनी आत्मकथा की चर्चा करने का अवकाश ही नही मिलता। हमारे सूरदास भी पूर्ण भक्त थे, फिर भला वे अपने सम्बन्ध की चर्चा क्यों करते!

उनके जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ हमे अधिक विश्वस्तरूप से मिलता है, उस के प्रधान आधार हैं—उनकी अपनी रचनाए 'साहित्यलहरी' और 'सूरसारावली' और उनकी मृत्यु के थोड़े समय बाद लिखी हुई गोसाईं गोकुलनाथ की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'। 'वार्ता' में लिखा है—"वे एक सारस्वत ब्राह्मण थे, उनके पिता का नाम रामदास था और उनका जन्म आगरा के पास रुणकता नामक गाव में हुआ था"। साहित्य-लहरी के अन्तिम पद में जो वे अपने सम्बन्ध की चर्चा करते हैं उससे जान पड़ता है कि वे पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्दबरदाई के वंश के ब्रह्म भट्ट थे। वे जन्म के अन्धे थे। उनके छः भाई और भी थे, जिन्हें मुसलमानों ने युद्ध में मार डाला था और उनकी मृत्यु के पीछे वे एक अनाथ की भाति फिरा करते थे। कृष्ण भक्ति का उन के हृदय में बचपन से बीज था। कहा जाता है एक दिन वे सहसा एक कुए में गिर पड़े और छः दिन तक वही पड़े रहे। सातवें दिन भगवान् कृष्ण ने उन्हें दिव्य दृष्टि देकर दर्शन दिया। दर्शन पाकर वे इतने मुग्ध हुए कि हाथ जोड़ कर उनसे प्रार्थना की कि तुम इन आखों में सदा के लिए बसे रहो और इनके कपाट सदा के लिए बन्द कर दो। तुम से भिन्न और मैं किसी वस्तु को न देख सकूँ। भगवान् कृष्ण ने उन्हें कुएं से बाहर निकाल दिया और वे ज्यों के त्यों अंधे हो गए और ब्रज में पहुंच कर कृष्ण का गुणगान और आराधन करने लगे।

किन्तु यह दूसरा पक्ष इतना विश्वस्त नहीं है क्योंकि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक इसे बाद मे चन्दबरदाई के किसी वंशज कवि का जोड़ा हुआ बतलाते हैं। कुछ भी हो यह निर्विवाद सिद्ध है कि वे एक अंधे कवि थे। ऐसे अंधे, जिनकी आखें संसार के सामने बन्द रहती हैं और अपने इष्टदेव के सामने खुली, वे अपने इस अन्धेपन को अपने प्रभु का पुण्य प्रसाद समझते थे। उनका सारा

जीवन केवल अपने इष्टदेव के संकीर्तन में ही बीता । वे एक निपुण गायक भी थे । श्री वल्लभाचार्य उनसे एक बार मिले और उनकी गानमाधुरी और कृष्णप्रेम को देख कर उन पर मुग्ध हो गये, उन्होंने अपने साथ चलने का अनुरोध किया। फलतः सूरदास सदा के लिये उनके साथ रहने लगे । अपने ठाकुर जी के सामने वे प्रति दिन नये नये पद बना कर गाया करते थे । उसी के फलस्वरूप हमें उन का यह बृहत् काव्य 'सूरसागर' नाम का ग्रन्थ मिलता है । सुनते हैं । 'सूरसागर' में कुल मिला कर सवा लाख पद थे किन्तु आजकल कुल छः हजार पद ही मिलते हैं । 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' ये दो और छोटे छोटे ग्रन्थ भी उनके नाम से मिलते हैं । ऐतिहासिक खोज से ज्ञात हुआ है कि उनका जन्म संवत् १५४० में हुआ था और निधन संवत् १६२० में । उनकी मृत्यु का स्थान पारासोली नामक गाव बतलाया जाता है ।

(१) चरन-कमल बंदौं हरि राई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरसाई ॥
बहिरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौ तेहि पाई ॥

(२) कब तुम मोसो पतित उधारो ।
पतितनि में विख्यात पतित हौं, पावन नाम तिहारो ॥
बड़े पतित पासंगहुँ नाही, अजमिल कौन विचारो ।
भाजे नरक नाम सुनि मेरो, जमनि दियो हठि तारौ ॥
छुद्र पतित तुम तारि रमापति, जिय जु करौ जनि गारौ ।
सूर, पतित कों ठौर कहुँ नहिं, है हरि-नाम सहारो ॥

(३) दीनानाथ अब बारि तुम्हारी ।
पतित उधारन बिरद जानि कै बिगरी लेहु सँभारी ॥
बालापन खेलत ही खोयो युवा , विषय रस माते ।
वृद्ध भये सुधि प्रगटी मोकों दुखित पुकारत ताते ॥
सुतनि तज्यो तिय तज्यो भ्रात तजि तन-त्वच भई जु न्यारी ।
श्रवण न सुनत चरण गति थाकी नैन भये जल-धारी ॥

पलित केस कफ कंठ निरोध्यौ कल न परै दिन-राती।
माया मोह न छाँड़ै तृस्ना ए दोऊ दुख-दाती॥
अब या विथा दूरि करिवे को और न समरथ कोई।
सूरदास प्रभु करुणासागर तुम तैं होइ सु होई॥

(४) अबकै माधव मोहिं उधारि।
मगन हौं भव-अम्बुनिधि में, कृपा-सिंधु मुरारि॥
नीर अति गंभीर माया लोभ लहर तरंग।
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह-अनंग॥
मीन इन्द्रिय अतिहिं काटति मोट अघ सिर भार।
पग न इत-उत धरन पावत उरझि मोह-सिवार॥
काम क्रोध समेत तृस्ना पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम-नौका ओर॥
थक्यौ बीच बेहाल बिह्वल सुनहु करुना-मूल।
स्याम, भुज गहि काढ़ि डारहु सूर ब्रज के कूल॥

(५) प्रभु, मेरे औगुन चित न धरौ।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो, अपने पनहिं करौ॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परौ।
यह दुविधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ॥
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरौ।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भये, सुरसरि नाम परौ॥
एक जीव इक ब्रह्म कहावत, सूर-स्याम झगरौ।
अब की बेर मोहि पार उतारौ, नहिं पन जात टरौ॥

(६) तुम मेरी राखौ लाज हरी।
तुम जानत सब अंतरजामी, करनी कछु न करी॥
औगन मोतें बिसरत नाहीं, पल छिन घरी घरी।
सब प्रपंच की पोट बाँध कर, अपने सीस धरी॥
दारा सुत धन मोह लिये हौं, सुधि बुधि सब बिसरी।
'सूर' पतित को बेगि उतारो, अब मेरी नाव भरी॥

(७) आजहौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमही कै तुमही माधव, अपुन भरोसो लरिहौं॥
हौं तो पतित चहौं पीढ़िन को, पतित ह्वै निस्तरिहौं।
अबहौं उधरि नचन चाहत हौं तुमहैं विरद बिन करिहौं॥
कत अपनी परतीत नसावत, मैं पायो हरि हीरा।
'सूर' पतित तब ही लै उठिहैं, जब हँसि देहौं बीरा॥

(८) अब मोहि भीजत क्यों न उवारो?
दीनबन्धु करुनामय स्वामी, जन के दुःख निवारो॥
ममता घटा मोह की बूँदें, सलिता मैन अपारो।
बूड़त कतहुँ थाह नहि पावत, गुरु-जन-ओट-अधारो॥
गरजनि क्रोध लोभ को नारो, सूझत कहुँ न उधारो।
तृसना तड़ित चमक छन ही छन, अहनिसि यह तन जारो॥
यह सब जल कलिमलहि गहे है, बोरत सहस प्रकारो।
'सूरदास' पतितन को संगी, बिरदहि, नाथ, संभारो॥

(९) अबिगत गति कुछ कहत न आवै।
ज्यों गूँगो मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै॥
परम स्वादु सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै॥
रूप-रेख-गुन जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै।
सब विधि अगम बिचारहिं तातें 'सूर' सगुन-पद गावै॥

(१०) मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै॥
कमलनैन कौ छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यो, क्यों करील फल खावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै?

(११) छाँड़ि मन हरि बिमुखन को संग।
जिनके संग कुबुद्धि उपजति है परत भजन में भंग॥

कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग।
कागहि कहा कपूर चुगायो स्वान न्हवाये गंग॥
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषण अंग।
गज को कहा न्हवाये सरिता बहुरि धरै खहि छंग॥
पाहन पतित बाण नहिं बेधत रीतो करत निषंग।
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग॥

(१२) सबै दिन गये विषय के हेत।
देखत ही आपुन पौ खोयो केस भये सब सेत॥
रुँध्यो स्वाँस मुख बैन न आवत चंद्रा लगीं सँकेत।
तजि गंगोदक पियै कूपजल पूजत गाड़े प्रेत॥
करि प्रमाद गोबिन्द बिसारे बूड़यौ सबनि समेत।
'सूरदास' कछु खरच न लागतु कृस्न सुमिरि किन लेत?

(१३) जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
घर के कहैं बेगि ही काढ़ौ भूत भए कोउ खैहै।
जा प्रीतम सों प्रीत घनेरी, सोउ देखि डरैहै॥
कहँ वह ताल, कहाँ वह सोभा, देखत धूरि उड़ैहै।
भाई बंधु अरु कुटुंब-कबीला सुमिरि सुमिरि पछितैहै॥
बिनु गोपाल कोउ नहिं अपुनो, जस अपजस रहि जैहै।
सो, 'सूर' जु दुरलभ देवन को, सतसंगति में पैहै॥

(१४) सबै दिन एक समान न जात।
सुमिरन ध्यान कियौ करि हरि को जब लगि तन कुसलात
कबहुं कमला चपला पाकरि टेढ़े टेढ़े जात
कबहुँक मग मग धूरि बटोरत भोजन को बिलखात
या देही के गर्व बावरो तदपि फिरत इतरात
वाद बिवाद सबै दिन बीते खेलत ही अरु खात
हौं बड़, हौं बड़ कहत-कहावत सूधे करत न बात।
योग न जुगति ध्यान नहिं पूजा वृद्ध भये अकुलात॥

बालापन खेलत ही खोयौ तरुनापन अलसात।
'सूरदास' औसर के बीते रहि है पुनि पछितात॥

(१५) जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराई मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै॥
मेरे लाल कों आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहिं बेगिहिं आवै, तोकों कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत है, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रही, करि-करि सैन बतावै॥
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसमति मधुरै गावै।
जो सुख 'सूर' अमर-मुनि-दुरलभ सो नंद-भामिनी पावै॥

(१६)
जागिए ब्रजराज-कुँवर, कमल कुसुम फूले। कुमुद-बृंद सकुचित भये, भृंग लता भूले।
तमचुर खग रौर सुनहु, बोलत बनराई। राँभति गो खरिकन में बछरा-हित धाई।
बिधु मलीन रबि-प्रकास, गावत नर-नारी। सूर, स्याम प्रात उठौ, अंबुज-कर-धारी

(१७) कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई
खेलत कुंवर कनक-आँगन में, नैन निरखि छवि छाई॥
कुलहि लसति सिर स्याम सुभग अति बहु बिधि सुरंग बनाई।
मानों नव घन ऊपर राजत, मघवा धनुष चढाई॥
अति सुदेस मृदु चिकुर हरत मन मोहन मुख बगराई।
मानों प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आई॥
नील सेत पर पीत लालमनि लटकन भाल लुनाई।
सनि गुरु-असुर देव-गुरु मिलि मनों भौम सहित समुदाई॥
दूध-दंत-दुति कहि न जाति अति अद्भुत इक उपमाई।
किलकत हँसत दुरत प्रगटत मनु घन में बिज्जु छपाई॥
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाई।
घुटुरुन चलत रेनु तन-मंडित 'सूरदास' बलि जाई॥

(१८) चोरी करत कान्ह धरि पाए
निसि बासर मोहिं बहुत सतायो अब हरि हाथहिं आए॥

माखन दधि मेरो सब खायो, बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तो आइ परे हौ लालन, तुम्हें भले मैं चीन्ही ॥
दोउ भुज पकरि कह्यौ,—कित जैहौ, माखन लेउँ मँगाई।
तेरी सौं, मै नेकु न खायो सखा गए सब खाई ॥
मुख तन चितै विहँसि हँसि दीन्हो, सिर तब गई बुझाई।
लियो उर लाइ ग्वालिनी हरि को, 'सूरदास' बलि जाई ॥

(१९) मैया नहिं माखन खायो।

ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ ॥
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचे धरि लटकायौ।
तुही निरखि नान्हे कर आपनें, मैं कैसे करि पायो ॥
मुख दधि पौंछि बुद्धि इक कीन्ही, दौना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसकाइ जसोदा स्यामहिं कंठ लगायौ ॥
बाल-बिनोद मोद मन मोह्यौ, भक्ति प्रताप दिखायौ।
'सूरदास' यह जसुमति कौ सुख, सिव-बिरंचि नहिं पायौ ॥

(२०) आज मैं गाइ चरावन जैहौं।

वृंदावन के भाँति भाँति फल, अपने कर मैं खैहौं ॥
ऐसे अबहिं कहो जनि बारे, देखौ अपनी भाँति।
तनिक तनिक पग चलिहौ कैसे, आवत ह्वैहै राति ॥
प्रात जात गैया लै चारन घर आवत है साँझ।
तुम्हारे कमल बदन कुम्हिलैहै रेंगत घामहि माँझ ॥
तेरी सौं माहिं घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक।
'सूरदास' प्रभु कह्यो न मानत परे आपनी टेक ॥

(२१) मैया, मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।

मोसों कहत मोल कौ लीन्हौं, तू जसुमति कब जायौ ॥
कहा कहौं, इहि रिसि के मारे खेलन हौं नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात ॥
गोरे नंद जसोदा गोरी, तू कत स्याम सरीर।

चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥
तू मोहीं कों मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै ॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
'सूर' स्याम मोहिं गो-धन कीं सौं, हौं माता तू पूत ॥

(२२) खेलत में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबसहीं कत करत रिसैयाँ ॥
जाति-पाँति हमतें बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत हम पै, हैं कछु अधिक तुम्हारैं गैयाँ ॥
रूहठि करै तासों को खेलै, कहे बैठि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ।
'सूरदास' प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाँव दियौ करि नंद-दुहैयाँ ॥

(२३) सखा कहत स्याम खिसाने।
आपुहि आपु ललकि भए ठाढ़े, अब तुम कहा रिसाने ?
बीचहि बोलि उठे हलधर तब—इनके माय न बाप।
हार जीत कछु नेक न जानत लरिकन लावत पाप ॥
आपुन हारि सखा सौं झगरत,—यह कहि दिए पठाई।
'सूर' स्याम उठि चले रोइकै, जननी पूछति धाई ॥

(२४)
द्वारें टेरत हैं सब ग्वाल,—कन्हैया, आवहु बार भई।
आवहु बेगि, बिलम जनि लावहु, गैयाँ दूरि गई ॥
इहि सुनतहि दोऊ उठि धाए, कछु अँचयौ कछु नाहीं।
कितिक दूर सुरभी तुम छाँड़ी, बन तौ पहुँची आहीं ॥
ग्वाल कह्यो कछु पहुँची ह्वैहैं, कछु मिलिहैं मग माहीं।
'सूर' स्याम बल मोहन भैया, गैयन पूछत जाहीं ॥

(२५) जसोदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गईं तिहारी चारौ, कैसे मारग सूझै ॥
इक तनु जरो जात बिन देखे, अब तुम दीनों फूँक।

यह छतियाँ मेरे कुँवर कान्ह बिनु फटि न गई द्वै टूक ॥
धिग तुम, धिग ये चरन अहो पति, अध-बोलत उठि धाए।
'सूर' स्याम-बिछुरन को हम पै देन बधाई आये ॥

(२६) ऊधो, अँखिया अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति, भूलहुँ पलक न लागी ॥
बिनु पावस पावस-रितु आई, देखत हो विदमान।
अवधो कहा कियो चाहत हौ, छांडहुँ नीरस ज्ञान ॥
सुनु प्रिय सखा स्यामसुन्दर के जानत सकल सुभाव।
जैसें मिलैं 'सूर' हमकों, सो कछु करहु उपाव ॥

(२७) ऊधो, मन-नाहीं दस-बीस।
एक हुतो सो गयों स्याम-संग, को अवरावै ईस ॥
सिथिल भईं सबही माधो बिनु जथा देह बिन सीस।
स्वासा अटकि रही आसा लगि जीवहिं कोटि बरीस ॥
तुम तौ सखा स्यामसुंदर के, सकल जोग के ईस।
'सूरदास' रसिक की बतिया पुरवौ मन जगदीस ॥

(२८) ऊधो, मन माने की बात।
दाख-छुहारो छाड़ि अमृत-फल, विष-कीरा विष खात ॥
जो चकोर को देइ कपूर कोउ, तजि अँगार न अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ में, बँधत कमल के पात ॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाकर मन जासों सोई ताहि सुहात ॥

(२९) अँखिया हरि-दरसन कों भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस राची ये बतिया सुनि रूखी ॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब ये तौ नहिं झूखी।
अब इन जोग संदेसनि ऊधो, अति अकुलानी दूखी ॥
बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पै पिवति पतूखी।
'सूर' जोग जनि नाव चलावहु ये सरिता हैं सूखी ॥

(३०) ऊधो, हमहि कहा समुझावहु ?

पसु, पंछी, सुरभी ब्रज की सब, देख स्रवन सुनि आवहु ॥
तृन न चरत गो, पिवत न सुत पय, ढूँढत बन बन डोलै।
अलि कोकिल जे आदि विहंगम, भीत भयानक बोलैं ॥
जमुन भई तन स्याम, स्याम बिन, अंध छुनि जे रोगी।
तरुवर पत्र वसन न सँभारत, बिरह बृच्छ भय योगी ॥
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना जो मीन।
'सूरदास' प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस के लीन ॥

(३१) ऊधो, इतनी कहियो जाइ।

अति कृस गात भई हैं तुम बिन परम दुखारी गाइ ॥
जल-समूह बरसति दोउ आँखे, हूँकति लीन्हें नाँव।
जहा जहा गो दोहन कीन्हो, सूँघत सोई ठाँव ॥
परत पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु 'सूर' काढ़ि डारी हैं वारि-मध्य तें मीन ॥

(३२) ब्रज के बिरही लोग दुखारे।

बिन गोपाल ठगे-से ठाढ़े अति दुर्बल तनु कारे ॥
नंद-जसोदा मारग जोवत नित उठि साँझ-सबारे।
चहुँ दिसि कान्ह-कान्ह कै टेरत अँसुवन बहत पनारे ॥
गोपी गाइ ग्वाल गो-सुत सब अतिही दीन बिचारे।
'सूरदास' प्रभु बिन यौं सोभित चंद्र बिना ज्यों तारे ॥

(३३) प्रीत करि काहू सुख न लह्यौ।

प्रीति पतंग करी दीपक सों, आपै देह दह्यौ ॥
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपुट माँझ गह्यौ।
सारँग प्रीति जो करी नाद सों, सनमुख बान सह्यौ ॥
हम जो प्रीति करी माधव सो, चलत न कछू कह्यौ।
'सूरदास' प्रभु बिन दुख पावति नैननि नीर बह्यौ ॥

(३४) मधुबन तुम कत रहत हरे ?

बिरह-बिजोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

तुम हो निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक धिक सबन्ह करे॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठ परे!

(३५) कह्यौ कान्ह, सुनि जसुमति मैया।
आवहिंगे दिन चारि-पाच में हम हलधर दोउ भैया॥
मुरली बेंत बिखान देखियो सीगी बेर सबेरो।
लै जिनि जाइ चुराइ राधिका कछुक खिलौना मेरो॥
जा दिनतें तुमसों बिछुरे हम, कोउ न कहत कन्हैया।
भोरहि नाहि कलेऊ कीन्हो, साँझ न पियो धैया॥
कहत न बन्यौ सँदेसो मोपै-जननि जितो दुःख पायो।
अब हम सों बसुदेव-देवकी कहत आपुनो जायो॥
कहियै कहा नंद बाबा सों बहुत निठुर मन कीन्हो।
'सूर' हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी बहुरौ सोध न लीन्हो॥

(३६) ऊधो, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस-सुता की सुंदर कगरी अरु कुंजन की छाहीं॥
वे सुरभीं, वे बच्छ, दोहिनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुकताहल जाही।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहुलीला जसुदानंद निबाहीं।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन है, यह कहि कहि पछताही॥

(३७) हम भगतन के भगत हमारे।
सुन अर्जुन परतिग्या मोरी यह ब्रत टरत न टारे॥
भगतन काज लाज हिय धरिकैं पाँय पियादे धायौ॥
जहँ-जहँ भीर परी भगतन पै तहँ तहँ होत सहायौ॥
जों भगतन सों बैर करत हैं सो निज बैरी मेरो।
देख बिचार भगत-हित कारन हाँकत हौं रथ तेरो॥
जीते जीत भगत अपने की हारे हार बिचारों।
'सूर' स्याम जो भगत-बिरोधी चक्र सुदर्शन मारों॥

मीराबाई

'मीरा' जोधपुर के अंतर्गत मेड़ता के सामान्त राव रत्नसिंह की इकलौती, बेटी थी। १५७३ विक्रमी संवत में उनका जन्म हुआ था। शैशव काल में ही माता का देहान्त हो जाने से उनका लालन पालन पिता और पितामह ही करते रहे। सिसौदिया-वंश के प्रसिद्ध राणा सांगा के सुपुत्र भोजराज से उनका विवाह हुआ। कबीर के गुरुभाई रैदास उनके गुरु थे। राव दूदा, मीरा के पितामह परम भक्त थे, बालपन से ही मीरा पर उनकी भक्ति का प्रभाव पड़ा था।

विवाह के बाद मीरा चित्तौड़ चली गई। किन्तु यह सुख उनके भाग्य में नही बदा था वे। केवल सात साल के बाद ही विधवा हो गई, किन्तु वैधव्य से उनको उतना शोक नहीं हुआ। वे कृष्ण-प्रेम में तो पहले ही रंगी थी, अब पूर्ण रूप से उन्होंने श्रीकृष्ण को आत्मार्पण कर दिया, वे अब उन्हे ही अपना पति समझ कर उनकी आराधना करने लगीं। साधुसंग, श्रीकृष्ण की लीला-चर्चा और पूजा-अर्चा,—बस यही मीरा का प्रतिदिन का काम था। यह बात उनके देवर राव विक्रमादित्य को अच्छी नहीं लगती थी। उसने उनका भारी विरोध किया। जब वे किसी तरह भी न मानी तो उसने उनका प्राणान्त तक करने की चेष्टा की। एक बार विष मिला कर दूध का प्याला उनके पीने को भेजा। मीरा ने उसे भगवान् का चरणामृत समझा और पी गई किन्तु उस तीक्ष्ण विष का कुछ भी प्रभाव न पड़ा अन्त में बहुत विरोध किये जाने के बाद मीरा मथुरा वृन्दाबन की यात्रा करने के लिये चली गई। शेष जीवन उन्होंने वही अपने आराध्य देव की सेवा-पूजा मे बिता दिया। इनका देहान्त सं० १६२० और ३० के बीच में बतलाया जाता है।

मीरा की कविता कृष्णप्रेम से पूर्ण है। उसमें उनके विनय की संयोग और वियोग की भावना एक अपूर्व वस्तु है। उनके पदों से प्रभावित होकर हिन्दी समाज उन्हें सूर और तुलसी के सदृश मानता है। हिन्दी की स्त्रीकवियों में उनका आसन सर्वश्रेष्ठ है। उनकी मातृभाषा राजस्थानी (मारवाड़ी) है किन्तु कविता में ब्रज, अवधी, गुजराती और कही कहीं खड़ी बोली के भी रूप मिलते हैं। भावों को व्यक्त करने के लिये व्यञ्जनों से काम लिया गया है किन्तु उनमें कहीं भी

अस्वाभाविकता नहीं आने पाई। वस्तुतः मीरा कृष्ण के प्रेम में इतनी
रहती थीं कि प्रेम के उद्वेग में जो कुछ उन्होंने गाया वह सत्य, शुद्ध
स्वाभाविक रूप से कविता बन गई। उसमें प्रसाद गुण की मात्रा पूरे परिम
में मौजूद है। 'नरसी जी का मायरा' और 'राम-गोविन्द'—मीरा के लि
हुए ये दो ग्रन्थ बतलाए जाते हैं।

---

(१) हरि ! तुम हरो जन की भीर ॥
द्रौपदी की लाज राखी, तुम बढ़ायो चीर ॥१॥
भक्त कारन रूप नरहरि, धरयो आप सरीर ॥२॥
हरिनकस्यप मार लीन्हों, धर्यो नाँहिन धीर ॥३॥
बूडते गजराज राख्यो, कियो बाहर नीर ॥४॥
दास "मीरा" लाल गिरधर, दुख जहाँ तहँ पीर ॥५॥

(२) तुम सुनो दयाल म्हाँरी अरजी।
भौसागर में बही जात हूँ काढ़ो तो थॉरी मरजी।
यों संसार सगो नहिं कोई साँचा सगा रघुवर जी ॥
माता पिता और कुटुम्ब कबीला सब मतलब के गरजी।
'मीरा' की प्रभु अरजी सुन लो चरन लगाओ थॉरी मरजी ॥

(३)

मीरा को प्रभु साची दासी बनाओ। झूठे धन्धों से मेरा फंदा छुड़ाओ ॥
लूटे ही लेत विवेक का डेरा। बुधि-बल यदपि करूँ बहुतेरा ॥
हाय राम नहिं कछु बस मेरा। मरत हूं बिवस, प्रभु धायो सबेरा ॥
धर्म उपदेश नित प्रति सुनती हूँ। मन कुचाल से भी डरती हूँ ॥
सदा साधु सेवा करती हूँ। सुमिरण ध्यान में चित धरती हूँ ॥
भक्ति मार्ग दासी को दिखलाओ। 'मीरा' को प्रभु साची दासी बनाओ ॥

(४)

अब मैं शरण तिहारी जी, मोहि राखो कृपानिधान।
अजामील अपराधी तारे, तारे नीच सदान।
जल डूबत गजराज उबारे, गणिका चढ़ी बिमान ॥

और अधम तारे बहुतेरे, भाखत संत सुजान।
कुबजा नीच भीलनी तारी, जानै सकल जहान॥
कहँ लगि कहूँ गिनत नहिं आवै? थकि रहे वेद पुरान।
'मीरा' कह मैं शरण रावरी, सुनियो दोनों कान॥

(५)

स्वामी सब संसार के हो सांचे श्री भगवान।
स्थावर, जंगम पावक-पाणी, धरती बीच समान।
सब में महिमा तेरी देखी, कुदरत के कुरबान॥
सुदामा के दारिद खोये, बारे की पहचान।
दो मुट्ठी तंदुल की चावी, दीन्हों द्रव्य महान॥
भारत में अर्जुन के आगे, आप भये रथवान।
उस ने अपने कुल को देखा, छुट गये तीर कमान॥
ना कोई मारे, न कोई मरता, तेरा यह अज्ञान।
चेतन जीव तो अजर अमर है, यह गीता का ज्ञान॥
मुझ पर तो प्रभु किरपा कीजे, बंदी अपनी जान।
'मीरा' गिरधर शरण तिहारो लगे चरण में ध्यान॥

(६)

मेरा बेड़ा लगाय दीजो पार, प्रभु अरज करूँ छूँ।
या भव में मैं बहु दुख पायो, संसा सोग निवार।
अष्ट करम की तलब लगी है, दूर करो दुख पार॥
यो संसार सब बह्यो जात है, लख चौरासी धार।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, आवागमन निवार॥

(७)

अब तो निभायाँ बनेगा बाँह गहे की लाज।
समरथ सरण तुम्हारी साइयाँ, सरब सुधारण काज॥
भवसागर संसार अपरबल जा में तुम हो जहाज।
निरधाराँ आधार जगत-गुरु, तुम बिन होय अकाज॥

जुग-जुग भीर हरी भक्तन की, दीन्ही मोच्छ समाज।
'मीरा' सरण गही चरणन की, पेज रखो महराज॥

(८) हरि मेरे जीवन प्रान अधार।
और आसिरो नाँहीं तुम बिन तीनूं लोक मँझार॥
आप बिना मोहि कछु न सुहावै निरख्यौ सब संसार।
'मीरा' कहै मैं दास रावरी दीज्यो मती बिसार॥

(९) हरि बिन कूण गती मेरी।
तुम मेरे प्रतिपाल कहिये मैं रावरी चेरी॥
आदि अंत निज नाँव तेरो हीया में फेरी।
बेरि बेरि पुकारि कहूँ प्रभु आरति है तेरी॥
यौ संसार बिकार सागर बीच में घेरी।
नाव फाटी प्रभु पालि बाधो बूडत है बेरी॥
बिरहिन पिव की बाट जोवै राखि ल्यौ नेरी।
दास 'मीरा' राम रटत है मैं सरणी हूं तेरी॥

(१०)
जब से मोहि नंद नँदन दृष्टि पड्यो माई।
तब से परलोक लोक कछू न सोहाई॥
मोरन की चन्द्र कला, सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहै॥
कुण्डल की अलक, झलक कपोल पर छाई।
मानो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि, तिलक भाल, चितवन में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन, भूले मृग-छौना॥
सुन्दर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा॥
नटवर प्रभु वेष धरे, रूप अति विशेषा॥
अधर बिंब, अरुन नैन, मधुर मंद हाँसी।
दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला सी॥

(११)

घड़ी एक नही आवड़े, तुम दरसण बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूँ जीवण होय ?
धान न भीवे, नींद न आवे, बिरह सतावे मोय॥
घायल सी घूमत फिरूँ, रे, मेरा दरद न जाणे कोय।
दिवस तो खाय गमायो, रे, रैण गमाई सोय॥
जो मै ऐसा जानती, रे, प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिढोरा फेरती, रे, प्रीति करो मत कोय॥
पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ, ऊवी मारग जोय।
'मीरा' के प्रभु कब रे मिलोगे ? मिलियाँ सुख होय॥

(१२)

हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाणै कोइ।
घाइल की गति घाइल जाणैं, की जिण लाई होइ।
जौहरि की गति जौहरि जाणैं, की जिन जौहर होइ॥
सूली ऊपर सेज हमारी, सोवणा किस विध होइ।
दरद की मारी बन बन डोलूँ, वैद्य मिल्या नहि कोइ॥
गगन मँडल पै सेज पिया की, किस विधि मिलणा होइ।
'मीरा' की प्रभु पीर मिटैगी, जब वैद साँवलिया होइ॥

(१३) प्रभु बिन न सरै माई।

मेरा प्रान निकस्या जात हरी बिन ना सरै माई॥
कमठ दादुर बसत जल में जल से उपजाई।
मीन जल से बाहर कीना तुरत मर जाई॥
काठ लकरी बन परी काठ घुन खाई।
ले अगन प्रभु डार आये भसम हो जाई॥
बन बन ढूँढत मैं फिरी आली सुधि नहिं पाई।
एक बेर दरसण दीजै सब कसर मिटि जाई॥

पात ज्यों पीरी परी अरु विपत तन छाई ।
दास 'मीरा' लाल गिरधर मिल्या सुख छाई ॥

(१४) देखो सइयाँ, हरि मन काठ कियो ।
आवन कहि गयो अजहुँ न आयो करि बचन गयो ।
खान पान, सुध-बुध, सब बिसरी, कैसे करि मैं जियो ॥
बचन तुम्हारे तुमहिं बिसारे, मन मेरो हर लियो ।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, तुम बिन फाटत हियो ॥

(१५) माई मैं तो लियो रमैयो मोल ।
कोई कहे छानी, कोई कहे चोरी, लियो है बजंता ढोल ॥
कोई कहे कारो, कोई कहे गोरो, लियो है मैं आँखी खोल ।
कोई कहे हलका, कोई कहे भारी, लियो है तराजू तौल ॥
तन का गहना मैं सब कुछ दीन्हा, दिऐ हैं बाजूबंद खोल ।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, पुरब जन्म का है कौल ॥

(१६) पायो जी मैंने राम-रतन धन पायौ ।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुर, करि किरपा अपणायौ ॥
जनम जनम की पूँजी पाई, जग में सबै खोवायौ ।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवै, दिन दिन बढ़त सवायौ ॥
सत की नाव खेवटिया सतगुर, भवसागर तरि आयौ ।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, हरखि हरखि जस गायौ ॥

(१७)

मेरो तो एक राम नाम दूसरा न कोई ।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई ॥
भाई छोड्या, बन्धु छोड्या, छोड्या सगा सोई ।
साध संग बैठ बैठ लोक लाज खोई ॥
जगत देख राजी भई, जगत देख रोई ।
प्रेम नीर सींच सींच विष बेल बोई ॥

दधि मथ घृत काढ़ लियो डार दियो छोई।
राणा विष का प्याला भेज्यो पीय मगन होई॥
अब तो बात फैल पड़ी जाने सब कोई।
'मीरा' राम लगन लगी होनी होय सो होई॥

(१८) मन रे! परस हरि के चरन।
सुलभ सीतल कमल-कोमल त्रिविध-ज्वाला-हरन।
जे चरण प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरन॥
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों, राखि अपने सरन।
जिन चरन ब्रह्मांड भेट्यो, नखसिखौ श्रीभरन॥
जिन चरन प्रभु परसि लीन्हें, तरी गौतम-घरन।
जिन चरन कालीहि नाथ्यो, गोपलीला करन॥
जिन चरन धार्यो गोवर्द्धन, गरब मघवा हरन।
दास 'मीरा' लाल गिरधर, अगम तारन तरन॥

(१९) भज मन चरण कमल अविनासी।
जेतइ दीसे धरनि गगन विच, तेतइ सब उठ जासी।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हें, कहा लिये करवत कासी?
इस देही का गरव न करना, माटी में मिळ जासी।
यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड्याँ उठ जासी॥
कहा भयो है भगवा पहिरियाँ, घर तज भये सन्यासी।
जोगी होय जुगुति नहिं जानी, उलटि जनम फिर आसी॥
अरज करों अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फाँसी॥

(२०) चलो मन गंगा जमना तीर।
गंगा जमना निरमल पाणी सीतल होत सरीर।
बंसी बजावत गावत कान्हो संग लियाँ बलबीर॥
मोर मुकुट पीतांबर सोहै कुंडल झलकत हीर।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पै सीर॥

(२१)

राम नाम रस पीजे मनुआँ, राम नाम रस पीजे।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चरचा सुन लीजे॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ, चित से वहाय दीजे।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, ताहि के रंग में भीजे॥

(२२) मेरो मन रामहि राम रटै रे।
राम नाम जप लीजे प्राणी, कोटिक पाप कटै रे।
जनम-जनम के खत जु पुराने, नामहिं लेत फटै रे॥
कनक कटोरे अमृत भरियो, पीवत कौन नटै रे।
'मीरा' कहे प्रभु हरि अविनासी, तनमन ताहि पटै रे॥

(२३)

जग में जीवणा थोड़ा, राम कुण कड़ रे जंजार।
मात पिता तो जन्म दियो है, करम दियो करतार।
कइ रे खाइयो कइ रे खरचियो, कइ रे, कियो उपकार॥
दिया लिया तेरे संग चलेगा, और नहीं तेरी तार।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, भज उतरो भवपार॥

(२४) यहि विधि भक्ति कैसे होय?
मन की मैल हिय तें न छूटी, दियो तिलक सिर धोय॥
काम-कूकर लोभ-डोरी, बाँधि मोहिं चंडाल।
क्रोध-कसाई रहत घट में, कैसे मिले गोपाल?
बिलार-विषया लालची रे, ताहि भोजन देत।
दीन हीन है छुधारत से, राम नाम लेत॥
आपहि आप पुजाय के रे, फूले अंग न समात।
अभिमान टीला किये बहु, कहु जल कहाँ ठहरात?
जो तेरे हिय अंतर की जानै, तासों कपट न बनै।
हिरदे हरि को नाम न आवै; मुख ते मनिया गनै॥

हरी हितु से हेत कर, सागर आसा त्याग।
दास 'मीरा' लाल गिरधर, सहन कर वैराग॥

(२५) नहि ऐसो जनम बारंबार।
का जानूँ कछु पुराय प्रगटे, मानुसा अवतार॥
बढ़त छिन छिन घटत पल पल जात न लागे बार।
विरछ के ज्यों पात टूटे, लागे बहुरि न डार॥
भौसागर अति जोर करिए, विषम अनोखी धार।
राम नाम का बाँध बेड़ा, बेगि उतरे पार॥
ज्ञान-चोसर मँडी चोहटे, सुरत पासा सार।
या दुनिया में रची बाजी, जीत भावें हार॥
साधु संत महंत ग्यानी चलत करत पुकार।
दास 'मीरा' लाल गिरधर जीवणा दिन चार॥

(२६) करम गति टारे नहिं टरे।
सतबादी हरिचंद से राजा, सो तो नीच घर नीर भरे।
पाँच पाडु अरु सती द्रोपदी, हाड हिमाले गरे॥
जग्य कियो बलि लेण इन्द्रासण, सो पाताल धरे।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, विख से अमृत करे॥

तुलसीदास

कला की दृष्टि से कविता के अन्दर जितने गुण होने चाहिएं, गोस्वामी तुलसीदास की कविता में वे सब पूरे परिमाण में मौजूद हैं। उन्होंने हिन्दी में जो स्थान प्राप्त किया है, आज तक कोई भी उस तक नहीं पहुंच सका। कविता के कुछ पारखियों ने सूरदास को उनकी कोटि का वतलाने की चेष्टा की है, किन्तु कविता के सभी अंगों को दृष्टि के सामने रक्खा जाए तो सूरदास कुछ थोड़ा पीछे रह जाते हैं। इन दोनों ने केवल अपने इष्टदेव के रिझाने के लिये लिखा है। दोनों में पूर्ण पाण्डित्य भी है और पूर्ण भावुकता भी। किन्तु सूरदास की कविता

का एक-छत्रराज्य है, पाण्डित्य भी उसके सामने पानी भरता है। तुलसीदास कविता में भक्ति के साथ ही पाण्डित्य भी एक साथ होकर चलता है, इन दो में उन्होंने सौहार्द स्थापित किया है। उन्होंने जीवन की सभी परिस्थितियों लिखा है और पूरी तल्लीनता के साथ। किन्तु सूरदास जी की कविता भक्त-समाज के काम की बन सकी है उतनी सर्वसाधारण के काम की नहीं उसका प्रचार-क्षेत्र कुछ सीमित है। तुलसीदास के रामचरितमानस का। ज लोक-समाज में आदर हुआ है, वह किसी मानदण्ड से नहीं मापा जा सकता।

अच्छा तो ये तुलसीदास थे कौन ? उन्होंने अपना अता-पता हमें कुछ नहीं दिया। उनके सम्बन्ध में हमें जो कुछ मिलता है, उसके आधार हैं माधोदास का तुलसीचरित्र, नाभादास का भक्तमाल, महात्मा रघुवरदास का तु सीचरित तथा दो एक और ग्रन्थ। इन सब में उनके जीवन की घटनाओं कहीं कहीं आपस में विरोध भी मिलता है, जो घटनाएं एक साथ मिलती जुलत हैं, उनका उल्लेख नीचे किया जाता है:—

राजापुर, बांदा जिले का एक गांव उनकी जन्मभूमि थी। श्रावण सप्तमी १५८९ को उनका जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम आत्माराम था और माता का नाम हुलसी। वे सरयूपारीण कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनका जन्म फलित ज्योतिष के अनुसार एक अमङ्गल नक्षत्र में हुआ था। शैशवकाल में ह उनकी माता का देहान्त हो गया और पिता ने उनको त्याग दिया। माता पिता से परित्यक्त होकर वे एक महात्मा नरहरि का आश्रय पाकर खूब चमके। उस महात्मा ने ही उनके कान में बचपन से ही रामभक्ति का मन्त्र फूंका था। उनका विवाह भी हुआ था और पत्नी में उनकी भारी अनुरक्ति थी। एक समय वह उनकी अनुमति के बिना पीहर चली गई। वे भी उसके पीछे हो लिये। उसने खूब फटकार सुनाई, और कहा—

लाज न आवत आप को, दौरे आएहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चरममय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होति न तौ भवभीति॥

यह फटकार उनका काम कर गई और उन्हों ने यह सब मोह जाल ाड़ दिया। वे गृहस्थ से वैरागी होगए।

उत्तर भारत के प्रायः सभी तीर्थों में वे घूमे। फिर काशी में उस समय के हान् पण्डित शेष सनातन के पास रह कर विद्याध्ययन करने लगे। पंद्रह वर्ष क उन्होंने अध्ययन किया। इसके बाद कुछ काशी में और कुछ अयोध्या में रह कर उन्होंने रामचरितमानस की रचना की। इसके अतिरिक्त और भी कई न्थ लिखे, जिन की संख्या प्राय. २० तक पहुँचती है। उनमें १२ ऐसे हैं, जनका लोक-समाज में बहुत अधिक आदर है, उनके नाम नीचे दिये जाते हैं:—

विनयपत्रिका—अनेक राग-रागनियों में स्तुति और विनय के पद।

बरवैरामायण—बरवै छन्दों में रामचरित का वर्णन।

गीतावली—कथा वही रामयण से सम्बन्ध रखने वाली और रागरागिनीयुक्त।

रामाज्ञा—शकुनशास्त्र पर पद्यबद्ध रचना।

कृष्णगीतावली—कृष्ण-गुणगान।

दोहावली—उपदेश और भगवद्भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले दोहे।

पार्वतीमंगल—शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन।

जानकीमंगल—सीता जी की चरितगाथा।

कवितावली—कवित्त सवैया और घनाक्षरी आदि छन्दों में राम गुणगान।

वैराग्यसंदीपनी—संत-महात्माओं की गुणगाथा।

रामलला-नहछू—विवाह काल में पढ़ने योग्य सुन्दर छन्द।

संवत् १६८० श्रावण श्यामा तीज को तुलसीदास जी ने असी और गंग के संगम पर अपने भौतिक देह का त्याग किया। इस सम्बन्ध में यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

सम्वत् सोरह सौ असी असीगंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर॥

बन जाने के लिए सीता जी का अनुरोध

मातु पिता भगिनी ... प्रिय परिवार सुहृद

सासु ससुर गुरु सज्जन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय विनु तियहि तरनि ते ताते॥
तनु धनु धाम धरनि सुरराजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग-सम, भूषण भारू। जम-जातना-सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिअ बिन देह नदी बिनु वारी। तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-बिमल--बिधु-बदनु निहारे॥

खग मृग परिजन नगर बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुर-सदन-सम परन-साल सुख-मूल॥

बनदेवी बनदेव उदारा। करिहहिं सासु-ससुर-सम सारा॥
कुश-किसलय-साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज-तुराई॥
कन्द मूल फल अमिअ अहारू। अवध सौंध सत सरिस पहारू॥
छिनु-छिनु प्रभु-पद-सकल बिलोकी। रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥
बनदुख नाथ कहे बहुतेरे। भय विषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु-वियोग-लव-लेस-समाना। सब मिलि होंहि न कृपानिधाना॥
असजिय जानि सुजान-सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाडिअ जनि॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतर-जामी॥

राखिय अवध जो अवधि लगि रहत जानि अहि प्रान।
दीनबन्धु सुंदर सुखद सील-सनेह-निधान॥

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥
सबहि भाँति पिय-सेवा करिहौं। मारगजनित सकल स्रम हरिहौं॥
पाय पखारि बैठि तरुछाहीं। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं॥
स्रम कन-सहित स्याम तनु देखे। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखे॥
सम महि तृन-तरु-पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि ताति बयारि न मोही॥
को प्रभुसँग मोहि चितवनिहारा। सिंघवधुहि जिमि ससक सिआरा॥

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहिं उचित तप मो कहँ भोगू॥

ऐसेउ वचन कठोर सुनि जौं न हृदय विलगान॥
तौं प्रभु-विषम-बियोग-दुखु सहिहहि पाँवर प्रान॥

त-कौशल्या-संवाद

भरतहिं देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झइँ आई॥
देखत भरतु विकल भए भारी। परे चरन तनदसा बिसारी॥
मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय रामु लषनु दोउ भाई॥
कैकइ कत जनमी जग माँझा। जौं जनमित भइ काहे न बाँझा॥
कुलकलंकु जेति जनमेउ मोही। अपजसभाजन प्रिय-जन-द्रोही॥
को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु-सुरपुर, बन रघु-बर-केतु। मैं केवल सब अनरथहेतू॥
धिग मोहि भयेउँ वेनु-बन आगी। दुसह-दाह-दुख-दूषन-भागी॥

मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिये उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि॥

सरल सुभाय माय हिय लाए। अतिहित मनहुँ राम फिर आए॥
भेंटेउ बहुरि लषन-लघु-भाई। सोकु सनेहु न हृदय समाई॥
देखि सुभाउ कहत सब कोई। राममातु अस काहे न होई॥
माता भरतु गोद बैठारे। आँसु पोंछि मृदु बचन उचारे॥
अजहुँ बच्छ, बलि, धीरज धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू॥
जनि मानहु हिय हानि गलानी। काल-करम-गति अघटित जानी॥
काहुहि दोस देहु जनि ताता। भा मोहि सब विधि वाम विधाता॥
जो एतेहु दुख मोहि जिआवा। अजहुँ को जानै का तेहि भावा॥

पितुआयसु भूषन वसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर॥

सुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सब कर सब विधि करि परितोषू॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहै न राम-चरन-अनुरागी॥

विधि हरि हर सुरपति दिसि नाथा। बरनहिं सब दशरथ-गुन-गाथा॥

कहत तात केहि भाँति कोउ करहि बड़ाई तासु।
राम लषन तुम शत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु॥

सब प्रकार भूपति बड़भागी। बादि विषादु करिअ तेहि लागी॥
एहु सुनि समुझि सोचु परिहरहू। सिर धरि राजरजायसु करहू॥
राय राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पितावचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥
तजे रामु जेहि बचनहिं लागी। तनु परिहरेउ रामबिरहागी॥
नृपहि बचन प्रिय, नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रवाना॥
करहु सीस धरि भूपरजाई। है तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥
परसुराम पितु अग्याँ राखी। मारी मातु, लोग सब साखी॥
तनय जजातिहि जौबनु दयेऊ। पितुअग्याँ अघ अजसु न भयऊ॥

अनुचित उचित विचारु तजि जे पालहिं पितुबयन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति-अयन॥

अवसि नरेस-बचन फुर करहू। पालहु प्रजा, सोक परिहरहू॥
सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू। तुम्ह कहँ सुकृत सुजसु, नहिं दोषू॥
वेदविदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावै टीका॥
करहु राजु परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी॥
सुनि सुखु लहब राम-बैदेही। अनुचित कहब न पंडित केही॥
कौशल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजासुख होहीं सुखारी॥
मरम तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥
सौंपेहु राजु राम के आएँ। सेवा करेहु सनेह सुहाएँ॥

कीजियअ गुरु-आयसु अवसि कहहिं सचिव करिजोरि।
रघुपति आएँ उचित जस तस तब करब बहोरि॥

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुरु-आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ विषादु कालगति जानी॥

वन रघुपति, सुरपुर नरनाहू । तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू ॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा । तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा ॥
लखि विधि बाम कालु कठिनाई । धीरजु धरहु मातु बलि जाई ॥
सिर धरि गुरु आयसु अनुसरहू । प्रजा पालि परिजन-दुख हरहू ॥
गुरु के बचन सचिव अभिनंदनु । सुन भरत हिय हित जनु चंदनु ॥
सुनी बहोरि मातु मृदुवानी । सील-सनेह-सरल-रस-सानी ॥

सानी सरल रस मातुबानी सुनि भरतु व्याकुल भए ।
लोचनसरोरुह श्रवत सींचत विरह उर अंकुर नए ॥
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहिं सुधि देह की ।
तुलसी सराहत सकल सादर सीव सहज सनेह की ॥
भरत कमलकर जोरि धीर-धुरंधर धीर धरि ।
बचनु अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहिं ॥

मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका । प्रजा सचिव संमत सबही का ॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा । अवसि सीस धरि चाहौं कीन्हा ॥
गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी । सुनि मन मुदित करिअ जानी ॥
उचित कि अनुचित किए बिचारू । धरमु जाइ सिर पातक भारू ॥
तुम्हें तौ देउ सरल सिख सोई । जो आचरत मोर भल होई ॥
जद्यपि एह समुझत हौं नीके । तदपि होत परितोषु न जी के ॥
अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू । मोहि अनुहरत सिखावनु देहू ॥
उत्तर देउँ छमब अपराधू । दुखित-दोष-गुन गनहिं न साधू ॥
पितु सुरपुर, सिय-राम बन, करन कहहु मोहि राजु ।
एहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काजू ॥
हित हमार सिय-पति-सेवकाई । सो हरि लीन्हि मातु-कुटिलाई ॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं । आन उपाय मोर हित नाहीं ॥
सोकसमाजु राजु केहि लेखे । लषन-राम-सिय पद बिनु देखे ॥
बादि बसन बिनु भूषण-भारू । बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू ॥

सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरिभगति जाय जप जोगा।
जायँ जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सबु बिनु रघुराई॥
जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहि आँक मोर हित एहू॥
मोहि नृपु कर भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़तावस कहहू॥

कैकेइसुअन कुटिल मति रामबिमुख गतलाज।
तुम्ह चाहत सुखु मोहबस मोहि से अधम के राज॥

कहौं साँच सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरमसील नरनाहू।
मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥
मोहि समान को पापनिवासू। जेहि लगि सीय राम बनबासू॥
राय राम कहुँ कानन दीन्हा। बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनौं सचेतू॥
बिनु रघुबीर बिलोकिय बासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू॥
राम पुनीत बिषयरस रूखे। लोलप भूमि भोग के भूखे।
कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई। निदरि कुलिसु जेहि लही बड़ाई॥

कारन तें कारजु कठिन होइ दोसु नहि मोर।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥

कैकेईभव तनु अनुरागे। पावन प्रान अघाइ अभागे॥
जौं प्रियबिरह प्रान प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे॥
लषन-राम-सिय कहुँ बनु दीन्हा। बैठे अमरपुर पतिहित कीन्हा॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहिं सोकु संतापू॥
मोहि दीन्ह सुख सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकेई सब कर काजू॥
एहि तें मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम टीका॥
कैकेइजठर जनमि जग माहीं। एह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं॥
मोरि बात सब बिधिहि बनाई। प्रजा पांच कत करहु सहाई॥

ग्रहग्रहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु कवन उपचार॥

कैकेइसुअन-जोग जग जोइ। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥
दसरथ-तनय राम-लघु भाई। दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई॥
तुम्हँ सब कहहु कढ़ावन टीका। रायरजायसु सब कह नीका॥
उतरु देउँ केहि बिधि केहि केही। कहहु सुखेन जथा रुचि जेही॥
मोहि कुमातु-समेत बिहाई। कहहु कहहि के कीन्हि भलाई॥
मो बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सियरामु प्रानप्रिय नाहीं॥
परम हानि सबु कहँ बड़ लाहू। अदिन मोर नहिं दूषन काहू॥
संसय सील प्रेमबस अहहू। सबुइ उचित सबु जो कछु कहहू॥

राममातु सुठि सरलचित मोपर प्रेमु बिसेखि।
कहै सुभाय सनेहबस मोरि दीनता देखि॥

गुर बिबेकसागर जग जाना। जिन्हहिं बिस्व कर-बदर-समाना॥
मो कहुँ तिलकसाज सज सोऊ। भए बिधि-बिमुख बिमुख सब कोऊ॥
परिहरि रामुसीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं॥
सो मैं सुनब सहब सुख मानी। अंतहु कीच तहाँ जहँ पानी॥
डरु न मोहि जग कहिहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू॥
एकै उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥
जीवनलाहु लषन भल पावा। सबु तजि रामचरनु मन लावा॥
मोर जनम रघुवर बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी॥

आपन दारुन दीनता कहौं सबहिं सिर नाइ।
देखे बिनु रघु-नाथ-पद जिय कै जरनि न जाइ॥

आन-उपाउ मोहि नहिं सूझा। को जिय कै रघुवर बिनु बूझा॥
एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भइ मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी॥
सील सकुचि सुठि सरल सुभाऊ। कृपा-सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक, जद्यपि बामा॥

तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥
जेहि सुनि विनय मोहि जनु जानि। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥
जद्यपि जनमु कुमातु तें सठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहिं मोहिं रघुबीर भरोस॥

अनसूया का उपदेश—

कह रिषिबधू सरल मृदु बानी। नारि धर्म कछु व्याज बखानी॥
मातु पिता भ्राता हितकारी। मित सुखप्रद सुनु राजकुमारी॥
अमितदानि भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र औ नारी। आपद काल परिखियहि चारी॥
बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अन्ध बधिर क्रोधी अतिदीना॥
ऐसेहु पतिकर किय अपमाना। नारि पाव यमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद-प्रेमा॥
जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं। बेद पुराण सन्त अस कहहीं॥
उत्तम मध्यम नीच लघु सकल कहौं समुझाइ।
आगे सुनहिं ते भव तरहिं सुनहु सीय चित लाइ॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखहि कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय ते रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पतिवञ्चक पर-पति-रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु स्रम नारी परम गति लहई। पतिव्रत धर्म छाँड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। विधवा हो पाय तरुणाई॥
सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहहिं।
जासु गावत स्रुति चारि, अजहूँ तुलसी हरिहिं प्रिय॥
सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं।
तोहिं प्राणप्रिय राम, कहेउँ कथा संसार हित॥

शरद्-ऋतु-वर्णन-

वरषा बिगत सरद रितु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई॥
फूले कास सकल महि छाई। जनु वरषाकृत प्रगट बुढ़ाई॥
उदित अगस्त पंथजल सोषा। जिमि लोभहि सोषै सन्तोषा॥
सरिता-सर जल निर्मल सोहा। संतहृदय जस गत-मद-मोहा॥
रस रस सोष सरित-सर-पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी॥
जानि सरद रितु खंजन आए। पाय समय जिमि सुकृत सुहाए॥
पंक न रेनु सोह अस धरनी। नीति निपुण नृप की जस करनी॥
जलसंकोच विकल भई मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धनहीना॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा। जिमि हरिजन परिहरि सब आसा॥
कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बणिक भिखारि।
जिमि हरिभगति पाइ जन तजहिं आश्रमी चारि॥

सुखी मीनगण नीर अगाधा। जिमि हरिसरन न एकौ बाधा॥
फूले कमल सोह सर कैसे। निर्गुण ब्रह्म सगुन भये जैसे॥
गुंजत मधुकर निकर अनूपा। सुन्दर खगरव नाना रूपा॥
चक्रवाक मन दुख निसि पेखी। जिमि दुर्जन पर-संपति देखी॥
चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहै न संकरद्रोही॥
सरदातप निसि ससि अपहरई। संतदरस जिमि पातक टरई॥
देखि इन्दु चकोरसमुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई॥
मसकदंस बीते हिमत्रासा। जिमि द्विज द्रोह किये कुलनासा॥

भूमि जीव-संकुल रहे गये सरद रितु पाइ।
सद्गुरु मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाई॥

[वि]भीषण-रावण-संवाद

जौ कृपाल पूँछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता॥
जो आपन चाहै कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुख नाना॥

सो पर-नारि-लिलार गोसाईं। तजै चौथि के चंद की नाईं॥
चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्ठै नहिं सोई॥

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरही भजहु भजहिं जेहि संत॥

तात रामु नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहुँ कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवन्ता। व्यापक अजित अनादि अनंता॥
गो-द्विज-धेनु-देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष-तनु-धारी॥
जनरंजन भंजन खलब्राता। बेद-धर्म-रच्छक सुनु भ्राता॥
ताहि बयरु तजि नाइअ माथा। प्रनतारति-भंजन रघुनाथा॥
देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥
सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व-द्रोह-कृत अघ जेहि लागा॥
जासु नाम त्रय-ताप-नसावन। सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन॥

बार बार पद लागौं बिनय करौं दससीस।
परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस॥
मुनि पुलिस्त निज शिष्य सन कहि पठई यह बात।
तुरत सो मैं प्रभु सन कहि पाई सुअवसर तात॥

माल्यवंत अति सचिव सयाना। तासु बचन सुनि अति सुख माना।
तातु अनुज तव नीतिबिभूषन। सोई उर धरहु जो कहत बिभीषन॥
रिपु-उतकरष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ॥
माल्यवंत गृह गयउ बहोरी। कहै बिभीषनु पुनि कर जोरी॥
सुमति कुमति सब के उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥
तव उर कुमति बसी बिपरीती। हित अनहित मानहु रिपु प्रीति॥
कालराति निसिचर-कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥

तात चरन गहि माँगौं राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहु अहित न होइ तुम्हार॥

बुध-पुरान-श्रुति-संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥
सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥
जियसि सदा सठ मोर जिआवा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥
कहसि न खल अस को जग माहीं। भुजबल जेहि जीता मैं नाहीं॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा॥
उमा संत कै इहै बड़ाई। मंद करत जो करै भलाई॥

लक्ष्मण की मूर्छा पर राम का विषाद

उहाँ राम लछिमनहिं निहारी। बोले बचन मनुज अनुहारी॥
अर्धराति गइ कपि नहिं आवा। राम उठाइ अनुज उर लावा॥
सकहु न दुखित देखि मोहिं काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेउ बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बिचबिकलाई॥
जौं जनत्यों बन बंधुबिछोहू। पिता बचन मनत्यों नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलै न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर करहीना॥
अस मम जिवन बन्धु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जियावै मोही॥
जैहौं अवध कवन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गवाँई॥
बरु अपजसु सहत्यों जग माहीं। नारि हानि बिसेष छति नाहीं॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रानअधारा॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहिं गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी॥
उतरु काह दैहौं तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥
बहु बिधि सोचत सोचबिमोचन। स्रवत सलिल राजिव-दल-लोचन॥
उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगतकृपालु दिखाई॥

प्रभु विलाप सुनि कान विकल भए बानरनिकर ।
आइ गयेउ हनुमान जिमि करुना महँ बीर रस ॥

केवट की प्रार्थना—

जिनको पुनीत बारि धारे सिर पै पुरारि, त्रिपथगामिनि-जिसु बेद कहैं गाइकै।
जिनको जोगींद्र मुनिवृंद देव देह भरि, करत बिराग जप जोग मन लाइकै।
तुलसी जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी, गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइकै।
तेई पायँ पाइकै चढ़ाइ नाव धोए बिनु, ख्वैहौं न पठावनी कै हैहौं न हँसाइकै॥

शबरी से भेंट (अछूतोद्धार)

सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन बाहु ।
सगुन सुहावने सूचत मुनि-मन-अगम उछाहु ॥

मुनि-अगम उर आनन्द, लोचन सजल, तनु पुलकावली ।
तृन-पर्नसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहन चली ॥
मंजुल मनोरथ करति, सुमिरति बिप्र-बरबानी भली ।
ज्यों कलप-बेलि सकेलि सुकृत सुफूल-फूली सुख-फली ॥१॥

प्रानप्रिय पाहुने ऐहैं राम लषन मेरे आजु ।
जानत जन-जिय की मृदु चित राम गरीबनिवाजु ॥
मृदु चित गरीबनिवाज आजु बिराजि हैं गृह आइकै ।
ब्रह्मादि संकर गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै ॥
लहि नाथ हौं रघुनाथ-बानो पतितपावन पाइकै ।
दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै ॥२॥

दोना रुचिर रचे पूरन कन्द मूल फल फूल ।
अनुपम अमियहु तें अम्बक अवलोकत अनुकूल ॥
अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनिकै ।
सुन्दर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै ।
छन भवन, छन बाहर बिलोकति पन्थ भू पर पानिकै ॥
दोउ भाई आये शबरिका के प्रेम-पन पहिचानिकै ॥३॥

स्रवन सुनत चली आवत देखि लषन रघुराउ।
सिथिल सनेह कहै, 'है सपना विधि कैधौं सति भाऊ' ॥
सति भाउ कै सपनो ? निहारि कुमार कोसलराय के।
गहे चरन जे अघहरन नत-जन-बचन-मानस-काय के ॥
लघु-भाग-भाजन उदधि उमग्यो लाभ सुख चित चाय के।
सो जननि ज्यों आदरी सानुज, राम भूखे भाय के ॥४॥

प्रेम पट पाँवड़े देत सुअरघ बिलोचन बारि।
आस्रम लै दिए आसन पंकज-पाँय पखारि ॥

पद-पंकजात पखारि पूजे पंथ स्रम-बिरहित भये।
फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नये ॥
प्रभु खात पुलकित गात, स्वाद सराहि आदर जनु जये।
फल चारिहू फल चारि दहि परचारि फल सबरी दये ॥५॥

सुमन बरषि हरषे सुर, मुनि मुदित सराहि सिहात।
केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात ॥
प्रभु खात माँगत, देति सबरी राम भोगी जाग के।
पुलकत प्रसंसत सिद्ध सिव सनकादि भाजन-भाग के ॥
बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के।
सुनु समुझि तुलसी जानु रामहिं बस अमल अनुराग के ॥६॥

रघुबर अँचइ उठे सबरी करि प्रनाम करि जोरि।
हौं बलि बलि गई पुरई मंजु मनोरथ मोरि ॥
पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहु पूरन करी।
अघ अवगुनन्हि की कोठरी करि कृपा मुद-मंगल भरी ॥
तापस किरातिनि कोल मृदु मूरति मनोहरि मन धरी।
सिर नाइ आयसु पाइ गवने परमनिधि पाले परी ॥७॥

सिय-सुधि सब कही नख सिख निरखि निरखि दोउ भाइ।
दै दै प्रदच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अघाइ ॥

प्रभु विलाप सुनि कान विकल भए बानरनिकर।
आइ गयेउ हनुमान जिमि करुना महँ बीर रस॥

केवट की प्रार्थना—

जिनको पुनीत बारि धारे सिर पै पुरारि, त्रिपथगामिनि-जिसु बेद कहैं गाइकै।
जिनको जोगींद्र मुनिबृंद देव देह भरि, करत बिराग जप जोग मन लाइकै।
तुलसी जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी, गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइकै।
तेई पायँ पाइकै चढ़ाइ नाव धोए बिनु, ख्वैहौं न पठावनी कै ह्वैहौं न हँसाइकै॥

शवरी से भेंट (अछूतोद्धार)

सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन बाहु।
सगुन सुहावने सूचत मुनि-मन-अगम उछाहु॥
मुनि-अगम उर आनन्द, लोचन सजल, तनु पुलकावली।
तृन-पर्नसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहन चली॥
मंजुल मनोरथ करति, सुमिरति बिप्र-बरबानी भली।
ज्यों कलप-बेलि सकेलि सुकृत सुफूल-फूली सुख-फली॥१॥

प्रानप्रिय पाहुने ऐहैं राम लषन मेरे आजु।
जानत जन-जिय की मृदु चित राम गरीबनिवाजु॥
मृदु चित गरीबनिवाज आजु बिराजि हैं गृह आइकै।
ब्रह्मादि संकर गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै॥
लहि नाथ हौं रघुनाथ-बानो पतितपावन पाइकै।
दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै॥२॥

दोना रुचिर रचे पूरन कन्द मूल फल फूल।
अनुपम अमियहु तें अम्बक अवलोकत अनुकूल॥
अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनिकै।
सुन्दर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै।
छन भवन, छन बाहर बिलोकति पन्थ भू पर पानिकै॥
दोउ भाई आये शवरिका के प्रेम-पन पहिचानिकै॥३॥

श्रवन सुनत चली आवत देखि ?
सिथिल सनेह कहै, 'है सपना बिधि
सति भाउ के सपनो ! निहारि कुमार ॥
गहे चरन जे अघहरन नत-जन-बचन
लघु-भाग-भाजन उदधि उमग्यो लाभ ॥
सो जननि ज्यों आदरी सानुज, राम ।
प्रेम पट पाँवड़े देत सुअरघ बिलोचन ॥
आस्रम लै दिए आसन पंकज-पाँय

पद-पंकजात पखारि पूजे पंथ ।
फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि
प्रभु खात पुलकित गात, स्वाद सराहि
फल चारिहू फल चारि दहि परचारि

सुमन बरषि हरषे सुर, मुनि मुदित
केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि
प्रभु खात माँगत, देति सबरी राम
पुलकत प्रसंसत सिद्ध सिव सनकादि
बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने
सुनु समुझि तुलसी जानु रामहि बस

रघुवर अँचइ उठे सबरी करि ...को ?
हौं बलि बलि गई पुरई मं... ...धाता ।
पुरई मनोरथ स्वारथहु ...ता ॥
अघ अवगुनन्हि की कोठरी करि ...ी ।
तापस किरातिनि कोल मृदु मूरति ॥
सिर नाइ आयसु पाइ

सिय-सुधि सब कही नख
दै दै प्रदच्छिना कर

अतिप्रीति मानस राखि रामहिं, राम-धामहिं सो गई।
तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जलअंजलि दई॥
तुलसी-भनित सवरी-प्रनति, रघुवर प्रकृति करुनामई।
गावत, सुनत, समुझत भगति हिय होय प्रभुपद नित नई॥८॥

हनुमान् की कार्यतत्परता

जो हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चन्द्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृत-कुण्ड महि लावौं।
भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं॥
पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पापु बहावौं॥
तुम्हारिहिं कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलम्ब न लावौं।
दीजै सोइ आयसु तुलसी प्रभु जेहि तुम्हारे मन भावौं॥

सुमित्रा का त्याग

सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामि-काज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं।
सुवन-सोक संतोष सुमित्रहि रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन छिन गात सुखात छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं॥
कपि सों कहति सुभाय अंब के अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं॥
'तात! जाहु कपि सँग' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥
अंब-अनुज-गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे है।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥

विनय

(१) माधव! मो समान जग माहीं।
सब बिधि हीन, मलीन, दीन अति लीन-बिषय कोउ नाहीं॥

तुम सम हेतु-रहित-कृपालु आरत-हित, ईसहिं त्यागी।
मैं दुख सोक-बिकल कृपालु! केहि कारन दया न लागी?
नाहिंन कछु अवगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना।
ज्ञान भवन तनु दिएहु, नाथ! सोउ पाय न मैं प्रभु जाना॥
बेनु करील, श्रीखंड बसंतहि दूषन मृषा लगावै।
सार-रहित, हतभाग्य सुरभि पल्लव सो कहु कहँ पावै॥
सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ बिचार जिय मोरे।
तुलसिदास प्रभु मोह-शृंखला छुटिहि तुम्हार छोरे॥

(२) हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम बिबुध-दुर्लभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों॥
कोटिहुँ मुख कहि जायँ न प्रभु के एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार॥
विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
तातें सहिय बिपति अतिदारुन जनमत जोनि अनेक॥
कृपा-डोरि, बंसी-पद-अंकुस, परम प्रेम-मृदु-चारो।
हिय विधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥
हैं स्रुति-विदित उपाय सकल, सुर केहि केहि दीन निहोरै?
तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥

शरणागत की रक्षा की चिन्ता

मेरो सब पुरषारथ थाको।
बिपति-बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको?
सुन सुग्रीव! साँचहू मो सन फेरयो बदन विधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं साखा-मृग, हौं पुनि अनुज-संघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति, रही सोचि भरि छाती॥

दोहे

राम-नाम-मनि-दीप धरु, जीह-देहरी द्वार।

तुलसी भीतर बाहिरौ जौ चाहसि उजियार ॥१॥
राम नाम अवलंब बिनु, परमारथ की आस।
बरषत बारिद-बूँद गहि, चाहत चढ़न अकास ॥२॥

रे मन ! सब सों निरस ह्वै, सरस राम सों होहि।
भलो सिखावन देत हैं, निसि दिन तुलसी तोहि ॥३॥

ज्यों जग बैरी मीन को, आपु सहित, बिनु बारि।
त्यों तुलसी रघुबीर बिनु, गति आपनी बिचारि ॥४॥
जे जन रूखे विषयरस, चिकने रामसनेह।
तुलसी ते प्रिय राम को, कानन बसहि कि गेह ॥५॥

तुलसी श्री रघुबीर तजि, करै भरोसो और।
सुख संपति की का चली, नरकहु नाहीं ठौर ॥६॥
बिंध न ईंधन पाइए, सायर जुरै न नीर।
परै उपास कुबेरघर, जो बिपच्छ रघुबीर ॥७॥

बरषा को गोबर भयो, को चहै, को करै प्रीति ?।
तुलसी तू अनुभवहि अब, रामबिमुख की रीति ॥८॥
तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भये भव पार ॥९॥
तुलसी राम कृपालु सों, केहि सुनाउ गुन दोष।
होय दूबरी दीनता, परम पीन संतोष ॥१०॥
तुलसी रामहु तें अधिक, रामभक्त जिय जान।
रिनिया राजा राम भे, धनिक भए हनुमान ॥११॥
बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होय न दृढ़ अनुराग ॥१२॥
बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिश्राम ॥१३॥
पुन्य, पाप, जस, अजस के भावी भाजन भूरि।

संकट तुलसीदास को, राम करहिंगे दूरि ॥१४॥

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति ।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुवर-प्रेम-प्रसूति ॥१५॥

रामचरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु ।
सज्जन-कुमुद चकोर चित, हित विसेष बड़ लाहु ॥१६॥

ज्ञानी, तापस, सूर, कवि, कोविद गुनआगार ।
केहि कै लोभ विडबना, कीन्हि न यहि संसार ॥१७॥
अवसर कौड़ी जो चुकै, बहुरि दिए का लाख ?
दुइज न चंदा देखिये, उदौ कहा भरि पाख ॥१८॥
तुलसी जग जीवन अहित, कतहुँ कोउ हित जानि ।
सोषक भानु कृसानु महि, पवन एक घन दानि ॥१९॥
तुलसी अपनो आचरन, भलो न लागत कासु ।
तेहि न बसात जो खात नित, लहसुनहू को बासु ॥२०॥
ग्रह, भेषज, जल, पवन, पट पाइ कुजोग सुजोग ।
होइ कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग ॥२१॥
तुलसी जे कीरति चहहिं, पर की कीरति खोइ ।
तिनके मुँह मसि लागिहै, मिटिहि न मरिहैं धोइ ॥२२॥
परद्रोही, परदार-रत, परधन, पर-अपवाद ।
ते नर पाँवर पापमय, देह धरे मनुजाद ॥२३॥
सारदूल को स्वाँग कर, कूकर की करतूति ।
तुलसी तापर चाहिए, कीरति बिजय बिभूति ॥२४॥
जूझे ते भल बूझिबो, भली जीति तें हारि ।
डहके ते डहकाइबो, भलो, करिय बिचारि ॥२५॥
पेट न फूलत बिनु कहे, कहत न लागत देर ।
सुमति बिचारे बोलिये, समुझि कुफेर सुफेर ॥२६॥
सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु ।
विद्यमान रन पाय रिपु, कायर करहिं प्रलापु ॥२७॥

और दो-एक और भी कवि हैं। बिहारी में कवित्व शक्ति पूर्ण है किन्तु और कुछ क्लिष्टता लिए हुए हैं। वृन्द के दोहे सीधे साधे अभिधा शक्तिमूलक उनके पढ़ने से बुद्धि को कुछ गति नहीं मिलती। किन्तु रहीम की कविता दोनों से एक विशेषता रखती है। उनमें कवित्व की सहचरी व्यञ्जना भी और प्रसाद भी। उसमें सब सहज में समझ भी सकते हैं और साथ ही शि भी धुन सकते हैं। यही कारण है। उसका प्रचार क्षेत्र बहुत व्यापक है।

रहीम ने जितना फारसी में लिखा है उससे अधिक हिन्दी में उनकी खड़ीबोली की रचना मिलती है और बहुत सुन्दर। मदनाष्टक उनकी एक पुस्तक है खड़ीबोली की रचना है। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, फारसी तीनों को एक साथ जोड़ कर भी खड़ीबोली में कविता की है, जो मनोरञ्जन की बहुत सुन्दर सामग्री है।

रहीम की भाषा अवधी है। नीति और ज्ञान के अतिरिक्त भक्ति, धर्म शृंगार रस पर भी उनकी कविता मिलती है। उनकी लिखी पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं—

बरवै-नायिका-भेद।

मदनाष्टक।

रासपंचाध्यायी—अप्राप्य

शृंगारसोरठा।

रहीम-सतसई—केवल २६९ दोहे उपलब्ध हैं।

खटकौतुकजातकम्—ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी एक संस्कृत भाषा की रचना।

तुलसीदास जी से भी वे पूर्ण परिचित थे, केवल परिचित ही नहीं, अपितु उनके पूर्ण भक्त भी थे। वे ७२ वर्ष तक इस लोक में रहे और सं० १६८२ में स्वर्गधाम सिधारे।

दोहे

समय दसा कुल देखि कै, लोग करत सनमान।
'रहिमन' दीन अनाथको, तुम बिन को भगवान॥१॥

धूरि उड़ावत सीस पर, कहु रहीम कोहि काज।
जेहि रज मुनि-पत्नी तरी, सो ढूँढत गजराज ॥२॥

जो गरीब सों हित करै, धनि 'रहीम' वे लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥३॥

भावी ऐसी प्रबल है, केहि रहीम यह जान।
भावी काहू ना दही, दही एक भगवान ॥४॥

जो 'रहीम' भावी कतौं, होति आपुने हाथ।
राम न जाते हरिन संग, सीय न रावन साथ ॥५॥

संतत संपति जानि के, सब को सब कुछ देइ।
दीनबन्धु बिनु दीन कै, को रहीम सुधि लेइ ॥६॥

दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोइ।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होइ ॥७॥

जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत बमन करि, स्वानु स्वादु सों खात ॥८॥

मागे घटत रहीम पद, कितो करौ बढ़ि काम।
तीन पैग बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥९॥

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पानि।
कहि'रहीम'पर काज-हित, सम्पति सुचहिं सुजानि ॥१०॥

दुरदिन परे 'रहीम' कहि, भूलत सब पहचानि।
सोच नहीं बित हानि को जो न होय हित हानि ॥११॥

जो 'रहीम' विधि बड़ किये, को कहि दूषन काढ़ि।
चन्द्र दूबरो कूबरो, तऊ नखत ते बाढ़ि ॥१२॥

सर सूखे पंछी उड़ैं, औरे सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पच्छ के कहु 'रहीम' कहँ जाहिं ॥१३॥

तब ही लग जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत, हमहिं न रुचै 'रहीम' ॥१४॥

'रहिमन' दानि 'दरिद्रतर, तऊ जाचिबे जोग।
ज्यों सरितन सूखी परे, कुवाँ खनावत लोग ॥१५॥
'रहिमन' देखि बड़ेन को, लघु न दीजिये डारि।
जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तलवारि ॥१६॥
'रहिमन' अति न कीजिए, गहि रहिए निज कानि।
अतिसै फूल सहिजनौ, डार पात कै हानि ॥१७॥
बड़े पेंट के भरन में, है 'रहीम' दुख बाढ़ि।
याते हाथी हहरि कै, दिये दाँत द्वै काढ़ि ॥१८॥

कहु 'रहीम' कैसे निभै, बेर केरु कर संग।
वे डोलत रस आपुनो, उनके फाटत अंग ॥१९॥
खीरा के सिर काटि कै, मलियत नमक लगाइ।
'रहिमन' करुये मुखन कै, चहिए यही सजाइ ॥२०॥
'रहिमन' राज सराहिये, ससि-सम सुखद जो होय।
कहा बापुरो भानु है, तप्यो तरैयनि खोय ॥२१॥
'रहिमन' कहत सुपेट सों, क्यों न भयो तू पीठि।
रीते अनरीते करत, भरे बिगारत दीठि ॥२२॥
जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति, का करि सकै कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपिटे रहत भुजंग ॥२३॥
ज्यों 'रहीम' गति दीप की, कुल-कपूत गति सोइ।
बारे उजियारो लगे, बढ़े अँधेरो होय ॥२४॥
छोटेन सों सोहैं बड़े, कहि 'रहीम' यह लेख।
सहसन के हय बाँधियत, लै दमरी कै मेख ॥२५॥

अनुचित उचित 'रहीम' लघु, करहिं बड़ेन के जोर।
ज्यो ससि के संयोग ते, पचवत आगि चकोर ॥२६॥

धनि 'रहीम' जल पंक कहँ, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥२७॥

'रहिमन' नीचन संग बसि, लगत कलंक न काहि।
दूध कलारिन हाथ लखि, मद समुझहिं सब ताहि ॥२८॥

गुन ते लेत 'रहीम' जन, सलिल कूप ते काढ़ि।
कूपहुँ ते कहुँ होत है, मन काहू कर बाढ़ि ॥२९॥

'रहिमन' वे नर मरि चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं।
उन ते पहिले वे मुये, जिन मुख निकसत नाहिं ॥३०॥

धन दारा अरु सुतन में, रहत लगाये चित्त।
क्यों 'रहीम' खोजत नहीं, गाढ़े दिन कर मित्त ॥३१॥

अब 'रहीम, मुसकिल परी, गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिले न राम ॥३२॥

'रहिमन' लाख भली करो, अगुनी अगुन न जाइ।
राग सुनत पय पियत हूँ, साँप सहज धरि खाइ ॥३३॥

'रहिमन' तीन प्रकार ते, हित अनहित पहिचानि।
परबस परे, परोस बसि, परे मामिला जानि ॥३४॥

सीत हरत तम हरत नित, भुवन भरत नहिं चूक।
'रहिमन' तेहि रबि को कहा, जो घटि लखै उलूक ॥३५॥

कागज को-सो पूतरा, सहजहिं में घुलि जाइ।
'रहिमन' यह अचरज लखौ, सोऊ खैंचत बाइ ॥३६॥

बिगरी बात बनै नहीं, लाख करौ किन कोइ।
'रहिमन' बिगरे दूध को, मथै न माखन होइ ॥३७॥

मथत-मथत माखन रहै, दही मही बिलगाइ।
'रहिमन' सोइ मीत है, भीर परै ठहराइ ॥३८॥

'रहिमन' निज मन की व्यथा, मन ही राखौ गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय ॥३९॥

अब 'रहीम' चुप करि रहिउ, समुझि दिनन कर फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहैं बेर ॥४०॥

'रहिमन' बिपदा हू भली, जो थोड़े दिन होइ।
हित अनहित या जगत में, जानि परत सब कोइ ॥४१॥
साधु सराहै साधुता, जती जोखिता जान।
'रहिमन' साँचो सूर को, बैरी करै बखान ॥४२॥
ज्यों 'रहीम' सुख होत है, उपकारी के अंग।
बाँटन वारे के लगैं, ज्यों मेंहदी को रंग ॥४३॥
माँग मुकुरि न को गयो, केहि न त्यागियो साथ।
माँगत आगे सुख लह्यो, ते 'रहीम' रघुनाथ ॥४४॥
छमा बड़न को चाहिये, छोटन को उत्पात।
का 'रहीम' हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात ॥४५॥
जब लगि बित्त न आपुनो, तब लगि मित्र न कोइ।
'रहिमन' अम्बुज अम्बु बिनु, रवि ताकर रिपु होइ ॥४६॥
'रहिमन' बात अगम्य कै, कहन सुनन के नाहिं।
जो जानत सो कहत नहि, कहत सो जानत नाहिं ॥४७॥
बरु 'रहीम' कानन बसौं, असन करिय फल तोइ।
बन्धु मध्य गति दीन ह्वै, बसिबो उचित न कोइ ॥४८॥
'रहिमन' मैं या पेट सों, बहुत कहेउँ समुझाइ।
जो तू अनखाये रहै, कब कोऊ अनखाइ ॥४९॥
'रहिमन' घरिया रहँट कहँ, त्यों ओछे कै डीठि।
रीतिहि सन्मुख होती हैं, भरी दिखावै पीठि ॥५०॥
'रहिमन' ओछे नरन ते, तजो बैर अरु प्रीति।
काटे चाटे स्वान के, दुहूँ भाँति विपरीति ॥५१॥
'रहिमन' बहु भेषज करत, व्याधि न छाँड़ति साथ।
खग मृग बसत अरोग बन, हरि अनाथ के नाथ ॥५२॥
'रहिमन' उजली प्रकृति को, नहीं नीच कर संग।
करिया बासन कर गहे, करिखा लागत अंग ॥५३॥

खैर खून खाँसी खुसी, बैर प्रीति मद-पान।
'रहिमन' दाबे न दबै, जानत सकल जहान ॥५४॥
जैसी परै सो सहि रहै, कहि 'रहीम' यह देह।
धरती ही पर परत सब, सीत घाम अरु मेह ॥५५॥

सवैया

दीन चहै करतार जिन्हें सुख सो तो 'रहीम' टरै नहिं टारे।
उद्यम पौरुष कीने बिना धन आवत आपुहिं हाथ पसारे॥
दैव हँसे अपनी अपनी विधि के परपंच न जात बिचारे।
बेटा भयो वसुदेव के धाम औ दुंदुभि बाजत नंद के द्वारे॥

छप्पय

कबहुँक खग मृग मीन कबहुँ मर्कटतनु धरि कै।
कबहुँक सुर-नर असुर-नाग-मय आकृति करि कै॥
नटवत् लख चौरासी स्वाँग धरि धरि मैं आयो।
हे त्रिभुवन के नाथ! रीझ को कछू न पायो॥
जो हो प्रसन्न तो देहु अब मुकति दान माँगहु बिहँस।
जो पै उदास तो कहहु इह मत धरु रे नर स्वाँग अस॥

घनाक्षरी

हे तन, पेट चाहे छदन, मन चाहत है धन, जेती संपदा सराहिबी।
कहाय कै 'रहीम' कहै दीनबंधु, आपनी-विपत्ति जाय काके द्वार काहिबी॥
खायो चाहे, उद्यम बनायो चाहे, कुटुँब जियायो चाहे काढ़ि गुन लाहिबी।
हमारी जो पै औरन के कर डारो, ब्रज के बिहारी तो तिहारो कहाँ साहिबी॥

बिहारीलाल

बिहारीलाल हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि हैं। उन्होंने बहुत थोड़ा लिखा पर इतने मार्के का, कि इस थोड़े से ही उनकी गणना हिन्दी के नवरत्न में की जाती है। काव्य का वास्तविक और प्रधान उद्देश्य है इस

और दुःखपूर्ण संसार को मधुर बनाना, उसके अन्दर रस सींचना और दुःख और मृत्यु को सुख और अमृत का रूप देना। इसी लिये काव्य में रस को सब रसों में ऊँचा आसन दिया गया है। बिहारीलाल ने शृंगार जिस खूबी से वर्णन किया है, वैसा आज तक कोई भी कवि नहीं कर उनकी रचना का नाम बिहारी-सतसई है और वह प्रायः सब की सब रस से ओतप्रोत है। कुछ थोड़े दोहे ऐसे भी हैं जिन में वैराग्य और का उपदेश मिलता है और वह भी अनुपम और अद्वितीय। एक देखने में छोटा किन्तु नावक के तीर की भाँति गम्भीर घाव करने 'अर्थ अमित और आखर थोरे' का उदाहरण है। यही कारण है कि बिहारी पर आज तक जितनी टीकाएं हुई हैं उतनी किसी भी हिन्दी अथवा रचना पर नहीं। वह सचमुच इतना गम्भीर सागर है कि उसमें जितनी डुबकी लगाई जायगी, उतने ही मोती मिलेंगे, इन मोतियों का मिलना बंद ही नहीं होगा।

इन मोतियों को, साधारण जनसमाज की कौन कहे, बड़े बड़े हिन्दी संस्कृत के कवियों ने अपना कण्ठहार बनाया है, सूरति मिश्र, कृष्ण, चन्द्र (सुलतान पठान), लल्लूलाल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और अम्बिकादत्त पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र ये सब ऊँचे कवि और आलोचक माने हैं, इन सब ने बिहारी के इन दोहों को अपनाया है और उन पर सुन्दर लिखी है। इन दोहों के दो-एक पद्यानुवाद संस्कृत और उर्दू में भी हैं। बिहारी सतसई के दोहों का क्रम पहले कुछ और था। आज़मशाह गज़ेब के बेटे हिन्दी के बहुत प्रेमी थे। इन दोहों को वर्तमान रूप ही दिया है।

कवि बिहारीलाल ने अपने दोहों की रचना का आधार आर्या गाथा सप्तशती, विकटनितम्बा अमरुशतक आदि संस्कृत काव्यों से परन्तु इसमें उनकी प्रतिभा ने चार चाँद लगा दिये है। कहीं कहीं तो दोहे संस्कृत के पद्यों से भी सुन्दर बन गये हैं।

बिहारीलाल का जन्म ग्वालियार के निकट बसुआ गोबिन्दपुर गॉव में हुआ । वे चौबे ब्राह्मण थे। लगभग वि० १६६० उनका जन्म संवत् है और ७२० मृत्यु संवत्। आचार्य केशवदास उनके कविता-गुरु थे। वे अधिकतर ुरा अपनी ससुराल में ही रहा करते थे। पहले उनका कुछ दिन शाहजहाँ साथ सम्पर्क रहा फिर आगरे में महाराज जयसिंह के यहा रहने लगे। ासई की रचना जयसिंह की ही प्रेरणा का फल है। उनके यहा से उन्हें एक शरफी प्रतिदिन पुरस्कार स्वरूप मिला करती थी।

बिहारीलाल का शास्त्र और प्रकृति का अध्ययन बहुत गम्भीर था। उनकी षा ब्रज और बुन्देलखण्डी है—ओजस्विनी और अलङ्कारपूर्ण। शान्तरस, ाग्य और नीति के दोहे पढने से जान पड़ता है, वे मतमतान्तरों से बहुत वे उठे हुए थे और साम्प्रदायिक कलह उन्हें नहीं भाता था।

दोहे

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होय ॥१॥

मोहनि मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोय।
बसति सुचित अंतर तऊ, प्रतिबिम्बित जग होय ॥२॥

सखि सोहति गोपाल के, उर गुंजन की माल।
बाहर लसति मनो पिये, दावानल की ज्वाल ॥३॥

नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस बन मोर।
जानति हौ नन्दित करी, यहि दिसि नंद-किशोर ॥४॥

प्रलय करन बरषन लगे, जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति गर्व हरयो हरषि, गिरिधर गिरिधर हाथ ॥५॥

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि-सैल पर, आतप परयो प्रभात ॥६॥

अधर धरत हरि के परत, ओठ डीठ पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र-धनुष-रँग होति ॥७॥

नीच हिय हुलसो रहै, गहे गेंद को पोत।
ज्यौं-ज्यौं माथे मारिये, त्यौं-त्यौं ऊँचो होत ॥८॥
क्यौं न ओछे नरन सो, सरत बड़न के काम।
मढ़ो दमामो जात कहुँ, कहि चूहे के चाम ॥९॥
कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहि बीच।
नल-बल जल ऊँचै चढ़ै, तऊ नीच को नीच ॥१०॥
लटुवा लौं प्रभु कर गहै, निगुनी गुन लपटाय।
वहै गुनी कर ते छुटे, निगुनीयै ह्वै जाय ॥११॥
दुसह दुराज प्रजानि को, क्यों न बढ़ै अति दंद।
अधिक अँधेरो जग करैं, मिलि मावस रवि चन्द ॥१२॥
बसै बुराई जासु तन, ताहि को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जप दान ॥१३॥
कहै इहै सब स्रुति सम्रृति, इहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही, पातक राजा रोग ॥१४॥
बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥१५॥
गुनी गुनी सब कोउ कहै, निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते, अर्क समान उदोत ॥१६॥
संगति सुमति न पावही, परे कुमति के धंध।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होत सुगंध ॥१७॥
सबै हँसत कर तारि दै, नागरता के नाँव।
गयो गरब गुन को सबै, बस गँवारे गाँव ॥१८॥
नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ ॥१९॥
बढ़त बढ़त सम्पति-सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत-घटत [illegible] फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाय ॥२०॥

जो चाहौ चटक न घटै, मैलो होय न मित्त ।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥२१॥
मीत न नीति गलीत है, जो धरिये धन जोरि ।
खाये खरचे जो जुरै, तो जोरिये करोरि ॥२२॥
अरे परेखो को करै, तुही बिलोक बिचारि ।
किहि नर किहि सर-राखियो, खरे बढ़े पर पारि ॥२३॥
कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय ।
वा खाये बौरात है, या पाय बौराय ॥२४॥
बुरो बुराई जो तजै, तो चित खरो सकात ।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनै लोग उतपात ॥२५॥
अरे हंस या नगर में, जैयो आप बिचारि ।
कागनि सो जिन प्रीति करि, कोकिल दई बिडारि ॥२६॥
को कहि सकै बड़न सों, लखे बड़ी हू भूल ।
दीने दई गुलाब को, इन डारन वे फूल ॥२७॥
कर लै सूँघि सराहि कै, सबै रहैं गहि मौन ।
गंधी अंध गुलाब को, गँवई गाहक कौन ॥२८॥
को छूट्यौ यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात ।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यों उरझत जात ॥२९॥
दिन दस आदर पायकै, करि लै आपु बखान ।
जौलौं काग सराध-पख, तौलौं तो सनमान ॥३०॥
मरत प्यास पिंजरा परो, सुवा दिनन के फेर ।
आदर दै दै बोलियत, बायस बलि की बेर ॥३१॥
जाके एकौ एक हू, जग व्यवसाय न कोय ।
सो निदाघ फूले फलै, आक डहडहो होय ॥३२॥
नहिं पावस ऋतुराज यह, सुनु तरवर मति भूल ।
अपत भये बिन पाइहै, क्यों नव दल फल फूल ॥३३॥

सीतलता रु सुगंध की, महिमा घटी न मूर।
पीनसवारे जो तज्यो, सोरा जानि कपूर ॥३४॥
जो सिर धरि महिमा मही, लहियत राजा-राव।
प्रगटत जड़ता आपनी, मुकुट पहिरियत पाव ॥३५॥
चले जाहु ह्याँ को करत, हाथिन को व्यौपार।
नहि जानत या पुर बसत, धोबी ओड़ कुम्हार ॥३६॥
जगत जनायो जेहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्या आँखिन सब देखिये, आँखि न देखी जाहिं ॥३७॥
जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाँचै बृथा, साँचै राँचै राम ॥३८॥
यह जग काँचो काँच से, मै समझ्यो निरधार।
प्रतिबिम्बित लखिये जहाँ, एकै रूप अपार ॥३९॥
बुधि अनुमान प्रमान स्रुति, किये नीठि ठहराय।
सूछम गति परब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाय ॥४०॥
तौ लगि या मन-सदन में, हरि आवैं किहि बाट।
बिकट जटे जौलौं निपट, खुलैं न कपट-कपाट ॥४१॥
भजन कह्यौ तासौं भज्यो, भज्यों न एकौ बार।
दूर भजन जासौं कह्यौ, सो तू भज्यो गँवार ॥४२॥
दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन बिस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुन निकट ही, चंग-रंग गोपाल ॥४३॥
जात-जात बित होत है, ज्यों जिय में संतोष।
होत-होत त्यों होय तौ, होय घरी में मोष ॥४४॥
नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यो मनो तारन-बिरद, बारक बारन तारि ॥४५॥
दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईं नहिं भूल।
दई दई क्यों करत है, दई दई सु कुबूल ॥४६॥

थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूं कान्ह मनों भये आज-कालि के दानि ॥४७॥
कब को टेरत दीन है, होत न स्याम सहाय।
तुमहू लागी जगतगुरु, जगनायक जग-बाय ॥४८॥
घर-घर डोलत दीन है, जन-जन जाँचत जाय।
दिये लोभ-चसमा चखन, लघुहू बड़ो लखाय ॥४९॥
जो अनेक पतितन दियो, मोहू दीजै मोष।
तो बाँधौ अपने गुनन, जो बाँधे ही तोष ॥५०॥

वृन्द

'वृन्द' के नीति के दोहे बहुत विख्यात हैं। उनके पढने से जान पड़ता है, ा एक बहुत बड़े अनुभवशील व्यक्ति थे। उनकी कविता में जनसाधारण के लिए प्राचार शिक्षा के साथ ही मनोविनोद की भी पर्याप्त सामग्री है। सीधी सादी ातें किन्तु ज़बानी याद रखने की, और भाषा बिल्कुल सीधी, पढ़ते ही झट समझ में आने वाली, न कहीं अर्थ क्लिष्टता और न कहीं भाव-दुरूहता।

उनका जन्म सं० कुछ निश्चित नहीं। हिन्दी इतिहास लेखक लगभग १७४२ का अनुमान करते हैं। जन्म उनका कहीं मथुरा के पास हुआ था। वे ाहले औरंगजेब के दरबारी कवि थे। कुछ काल बाद उनके पोते अज़ीमुश्शान के कवि रहे। अजीमुश्शान उर्दू और हिन्दी का एक बहुत अच्छा कवि हो ाया है। बङ्गाल बिहार और उड़ीसा की सूबेदारी उसके सिपुर्द थी। वृन्द के ाथ उसका बहुत प्रेम था। वृन्द ने सतसई की पुस्तक उसके आश्रय में ही लेखी थी। भाव पंचाशिका और शृंगारशिक्षा नाम की दो पुस्तकें और भी वृन्द के हाथ की लिखी बतलाई जाती है किन्तु बहुत खोज के बाद भी वे अब तक नहीं मिल सकीं। वृन्द की कविता प्राय. संस्कृत की सूक्तियों और राजनीतिक श्लोकों के आधार पर है।

कृष्णगढ़ नरेश महाराज राजसिंह की वृन्द पर बहुत प्रीति थी। गुरुवत् मानते थे इनके वंशधर अब तक कृष्णगढ़ में रहते हैं।

दोहे

श्री गुरुनाथ प्रभाव ते, होत मनोरथ सिद्धि।
घन ते ज्यों तरु बेलि दल, फूल फलन की वृद्धि ॥१॥
जाही ते कछु पाइये, करिये ताकी आस।
रीते सरवर पै गये, कैसे बुझत पियास ॥२॥
कैसे निबहै निबल जन, कर सबलन सौं बैर।
जैसे बसि सागर विषे, करत मगर सौं बैर ॥३॥
दीयो अवसर को भलो, जासो सुधरै काम।
खेती सूखे बरसवो, घन को कौने काम ॥४॥
पिसुन छल्यो नर सुजन सों, करत विश्वास न चूकि।
जैसे दाध्यो दूध को, पीवत छाँछहिं फूँकि ॥५॥
ओछे नर की प्रीति की, दीनी रीति बताय।
जैसे छीलर ताल जल, घटत घटत घटि जाय ॥६॥
बनती देख बनाइये, परन न दीजै खोट।
जैसे चले बयार तब, तैसी दीजै ओट ॥७॥
बुरे लगत सिख के वचन, हिये विचारो आप।
करुवे भेषज बिन पिये, मिटै न तन की ताप ॥८॥
विधि रूठै तूठै कवन, को करि सकै सहाय।
बनदव भय जल गत नलिन, तहँ हिम देत जराय ॥९॥
फेर न ह्वै है कपट सों, जो कीजै व्योपार।
जैसे हाँडी काठ की, चढ़ै न दूजी बार ॥१०॥
अति परिचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय।
मलयागिरि की भीलनी, चन्दन देत जराय ॥११॥

भले बुरे सब एक से, जौलौं बोलत नाहिं।
जानि परतु है काक पिक, ऋतु वसंत के माहिं ॥१२॥
मधुर वचन ते जात मिट, उत्तम जन अभिमान।
तनिक सीत जल सों मिटे, जैसे दूध उफान ॥१३॥
सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहि देत बुझाय ॥१४॥
दुष्ट न छाँडे दुष्टता, कैसे हू सुख देत।
धोये हूं सौ बेर के, काजर होय न सेत ॥१५॥
कोउ विन देखे विन सुने, कैसे कहै विचार।
कूप-भेक जाने कहा, सागर को विस्तार ॥१६॥
जो सब ही को देत है, दाता कहिए सोइ।
जलधर वर्षत सम विषम, थल न विचारत कोइ ॥१७॥
स्वारथ के सबही सगे, बिन स्वारथ कोउ नाहिं।
जैसे पक्षी सरस तरु, निरस भये उड़ि जाहि ॥१८॥
सुख बीते दुख होत है, दुख बीते सुख होत।
दिवस गये ज्यों निसि उदित, निसि गत दिवस उदोत ॥१९॥
जे चेतन ते क्यों तजैं, जाको जासों मोह।
चुम्बक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह ॥२०॥
जो पावे अति उच्च पद, ताको पतन निदान।
ज्यों तपि तपि मध्याह लौं, अस्त होतु है भान ॥२१॥
जाके संग दूषन दुरै, करिये तिहि पहिचानि।
जैसे समुझैं दूध सब, सुरा अहीरी पानि ॥२२॥
मूरख गुन समुझै नहीं, तौ न गुनी में चूक।
कहा भयो दिन को विभौ, देखै जो न उलूक ॥२३॥
सज्जन तजत न सजनता, कीन्हहु दोष अपार।
ज्यों चन्दन छेदै तऊ, सुरभित करहि कुठार ॥२४॥

जाको जहँ स्वारथ सधै, सोई ताहि सुहात।
चोर न प्यारी चाँदनी, जैसे कारी रात ॥२५॥
बहुति निबल मिलि बल करैं, करैं जु चाहे सोय।
तिनकन की रसरी करी, करी निबन्धन कोय ॥२६॥
दुर्जन के संसर्ग ते, सज्जन सहत कलेश।
ज्यों दशमुख अपराध ते, बंधन लह्यो जलेश ॥२७॥
जे उत्तम ते असम सों, धरत न रिस मन माहिं।
घन गरजे हरि हुंकरै, स्यार बोल सुनि नाहिं ॥२८॥
कन कन जोरे मन जुरै, खाते निबरै सोय।
बूँद बूँद ज्यों घट भरै, टपकत बीते तोय ॥२९॥
ऊँचे बैठे ना लहैं, गुण बिन बड़पन कोइ।
बैठो देवल शिखर पर, वायस गरुड़ न होइ ॥३०॥
दोषहि को उमहै गहैं, गुण न गहै खल लोक।
पिये रुधिर पय ना पिये, लागि पयोधर जोंक ॥३१॥
जिहि जासों मतलब नहीं, ताकी ताहि न चाह।
ज्यों निस्नेही जीव के, तृण समान सुरनाह ॥३२॥
उद्यम कबहुं न छाँडिये, पर आशा के मोद।
गागरि कैसे फोरिये, उनयो देखि पयोद ॥३३॥
क्यों कीजै ऐसो जतन, जाते काज न होय।
परबत पै खोदे कुवाँ, कैसे निकसे तोय ॥३४॥
सुधरी बिगरै बेग ही, बिगरी फिर सुधरै न।
दूध फटे काजी परे, सो फिर दूध बनै न ॥३५॥
हित हू भलो न नीच को, नहिन भलो अहेत।
चाटि अपावन तन करै, काटि श्वान दुख देत ॥३६॥
यदपि सहोदर होय तऊ, प्रकृति और की और।
विख मारे ज्यावे सुधा, उपजें एकहि ठौर ॥३७॥

उत्तम पर कारज करै, अपनो काज बिसार।
पूरे अन्त जहान को, तापस भिक्षा धार ॥३८॥
काम परे ही जानिये, जो नर जैसा होय।
बिन ताये खोटो खरो, गहनो लखै न कोय ॥३९॥
होत सुसंगति सहज सुख, दुख कुसंग के थान।
गंधी और लुहार की, देखो बैठि दुकान ॥४०॥
विपत परे सुख पाइये, जो ढिग करिये भौन।
नैन सहाई बधिर के, अंध सहाई श्रौन ॥४१॥
कहा भयो जो धन भयो, गुन ते आदर होई।
कोटि दोय धानी धनुष, गुन बिन गहत न कोई ॥४२॥
गुनवारौ संपति लहै, लहै न बिन गुन कोय।
काढे नीर पताल ते जो गुनयुत घट होय ॥४३॥
दुष्ट निकट बसिये नहीं, वस न कीजिये बात।
कदली बेर प्रसङ्ग ते, छिदै कंटकन पात ॥४४॥
नृप-प्रताप ते देश में, रहे दुष्ट नहिं कोय।
प्रगटत तेज दिनेश कौं, वहाँ तिमिर नहिं होय ॥४५॥
उत्तम जन सों मिलत ही, अवगुण सो गुण होय।
घन सँग खारो उदधि मिल, बरसे मीठो तोय ॥४६॥
करत करत अभ्यास के, जड़ मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, शिल पर परत निशान ॥४७॥
सुख दिखाय दुख दीजिये खल सों लरिये काहि।
जो गुर दीने ही मरे क्यों विष दीजै ताहि ॥४८॥
सब सुख है संतोष में, धरिये मन संतोष।
नेक न दुरबल होत है, सर्प पवन के पोष ॥४९॥
सोई अपनो आपनो, रहे निरन्तर साथ।
होत परायो आपनो, शस्त्र पराये हाथ ॥५०॥

बिनसत बार न लागई, ओछे जन की प्रीति।
अम्बर डम्बर साँझ के, ज्यों बारु की भीति ॥५१॥
होय भले के सुत बुरो, भलो बुरे के होय।
दीपक के काजल प्रगट, कमल कीच ते जोय ॥५२॥
सुख सज्जन के मिलन को, दुर्जन मिलै जनाय।
जाने ऊख मिठास को, जब मुख नींब चबाय ॥५३॥
बिन पूछे ही कहत है, सज्जन हित के बैन।
भले बुरे को कहत है, ज्यों तमचुर गत रैन ॥५४॥
जा में विद्या नारदी, बिगरन देर न लाग।
पैस चोर भुँसि स्वान को, कहत धनी सों जाग ॥५५॥
करै न कबहूँ साहसी, दीन-हीन सा काज।
भूख सहै पर घास को, नहिं खावै मृगराज ॥५६॥
अपने अपने समय पर, सब का आदर होय।
भोजन प्यारो भूख में, तिस में प्यारो तोय ॥५७॥
मीठी कोऊ वस्तु नहिं, मीठी जाकी चाह।
असली मिसरी छोंडि के, आफू खात सराहि ॥५८॥
द्वै ही गति है बड़ेन की, कुसुम मालती भाय।
कै सबके सिर पर रहैं, कै बन मांहि बिलाय ॥५९॥
उत्तम विद्या लीजिये, जदपि नीच पै होय।
परयो अपावन ठौर महँ, कंचन तजत न कोय ॥६०॥

गिरिधर कविराय

गिरिधर कविराय जनसाधारण के लिये बहुत काम के कवि हैं। ये अपनी कुण्डलियों के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। भाषा अवध के गाँवों की है। व्याकरण के संयम पर उतना ध्यान नहीं दिया गया, किन्तु फिर भी उसमें ओज की

कमी नहीं आने पाई। इनकी कविता में समाज, राजनीति, धर्म, व्यवहार की बातें मिलती हैं, जो अनुभव के आधार पर ही लिखी गई हैं।

जान पड़ता है, उनकी स्त्री भी कविता करती थी। उसकी कविता भी दूध और मिसिरी की भाँति उनकी कविता में मिल गई है। अपनी कविता में उनकी स्त्री ने उन्हें 'साईं' कह कर सम्बोधित किया है।

इनका जन्म सं० १७७३ के लगभग बतलाया जाता है। जाति और स्थान आदि का कोई पता नहीं। कहा जाता है, ये मुल्तान के पास कहीं रहते थे। 'कविराय' पद से कोई भाट जान पड़ते है। इनके सम्बन्ध में यह कथा बहुत प्रसिद्ध है कि एक बार पड़ोस के एक बढ़ई से इनका बिगाड़ हो गया। उस बढ़ई की राजा के यहाँ खूब चलती थी। एक दिन उसने राजा के लिये एक सुन्दर पलंग तैयार किया। राजा उसे देख कर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे इसी तरह का एक और पलंग बना देने के लिये कहा। उस समय बढई ने गिरिधर को अपमानित करने की युक्ति सोची। उसने राजा से कहा—इस पलंग के साथ की लकड़ी गिरिधर के घर के वृक्ष से ही मिल सकती है, नहीं तो वैसा सुन्दर पलंग नहीं बन सकेगा। राजा ने अपने नौकरों को उस वृक्ष के काटने की आज्ञा दे दी। तब गिरिधर ने बहुत अनुनय विनय की, परन्तु राजा ने एक न सुनी। इससे वे दुखी हो अपनी स्त्री को भी साथ लेकर वहाँ से चल पड़े और भ्रमण करने लगे। इस भ्रमण-यात्रा में ही इन दोनों ने मिल कर इन कुण्डलियों की रचना की थी।

कुण्डलियां

(१)

साईं अवसर के पड़े, को न सहे दुख द्वन्द।
जाय बिकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द॥
वै राजा हरिचन्द, करैं मरघट रखवारी।
धरे तपस्वी वेष, फिरे अर्जुन बलधारी॥

कह गिरिधर कविराय, रसोई भीम बनाई।
को न करै घटि काम, परे अवसर के साईं॥

(२)

बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम विगारे आपनो, जग में होत हँसाय॥
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै।
खान पान सन्मान, राग रँग मनहि न भावै॥
कह गिरिधर कविराय, दुःख कुछ टरत न टारे।
खटकत है चित माँहि, कियो जो बिना बिचारे॥

(३)

दौलत पाइ न कीजिये, सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को ठाँउ न रहत निदान॥
ठाँउ न रहत निदान, जियत जग में यश लीजै।
मीठे वचन सुनाय, विनय सबही सों कीजै॥
कहत गिरिधर कविराय, अरे यह सब घर डोलत।
पाहुन निशि दिन चारि, रहत सबही के दौलत॥

(४)

साईं सब संसार में, मतलब को व्यवहार।
जब लगि पैसा गाँठ में, तब लगि ताको यार॥
तब लगि ताको यार, यार सँग ही सँग डोलैं।
पैसा रहा न पास; यार मुख से नहिं बोलैं॥
कह गिरिधर कविराय, जगत यह लेखा भाई।
करत बेगरजी प्रीति, यार बिरला कोई साईं॥

(५)

बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेइ।
जो बनि आवे सहज में, ताही में चित देइ॥

ताही में चित देइ, बात जोई बनि आवै।
दुर्जन हँसे न कोइ, चित्त में खेद न पावै॥
कह गिरिधर कविराय, यहै करु मन परतीती।
आगे की सुधि लेइ, समुझि बीती सो बीती॥

(६)

लाठी में गुण बहुत हैं, सदा राखिये संग।
गहरो नदि नारो जहाँ, तहाँ बचावै अंग॥
तहाँ बचावै अंग, झपटि कुत्ता कहँ मारै।
दुसमन दावागीर, तिनहुँ को मस्तक झारै॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो धूर के बाठी।
सब हथियारन छाँड़ि, हाथ मँह लीजै लाठी॥

(७)

चिन्ता ज्वाल शरीर बन, दावा लगि [illegible] जाय।
प्रगट धुवाँ नहिं देखियत, उर अन्तर धुँधवाय॥
उर अन्तर धुँधवाय जरै, ज्यों काँच की भट्टी।
जरिगो लोहू माँस, रह गई हाड़ की ठट्टी॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो रे मेरे मिन्ता।
वे नर कैसे जियें, जाहि तन व्यापै चिन्ता॥

(८)

गुन के गाहक सहस नर, बिनु गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनैं सब कोय॥
शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को इक रंग, काग सब भये अपावन॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के।
बिनु गुन लहै न कोय, सहस नर गाहक गुन के॥

(९)

मित्र बिछोहा अति कठिन, मति दीजै करतार।
वाके गुन जब चित चढ़ैं, बरसत नयन अपार॥
बरसत नयन अपार, मेघ सावन झरि लाई।
अब बिछुरे कब मिलैं, कहो कैसी बनिआई॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो बिनती एहा।
हे करतार दयालु, देहु जनि मित्र बिछोहा॥

(१०)

साईं घोड़न के अछत, गदहन पायो राज।
कौआ लीजै हाथ में, दूरि कीजिये बाज॥
दूरि कीजिये बाज, राज पुनि ऐसो आयो।
सिंह कीजिये कैद, स्यार गजराज चढ़ायो॥
कह गिरिधर कविराय, जहाँ यह बूझि बड़ाई।
तहाँ न कीजै भोर, साँझ उठि चलिए साईं॥

(११)

कमरी थोरे दाम की, आवै बहुतै काम।
खासा मलमल वाफता, उन कर राखै मान॥
उन कर राखै मान, बुंद जहँ आड़े आवै।
बकुचा बाँधे मोट, रात को झारि बिछावै॥
कह गिरिधर कविराय, मिलत है थोरे दमरी।
सब दिन राखै साथ, बड़ी मर्यादा कमरी॥

(१२)

साईं अपने चित्त की भूलि न कहिये कोइ।
तब लग मन में राखिये, जब लग कारज होइ॥
जब लग कारज होइ, भूलि कबहूँ नहिं कहिये।
दुर्जन तातो होय, आप सियरे ह्वै रहिये॥

कह गिरिधर कविराय, बात चतुरन की नाई।
करतूती कहि देत, आप कहिये नहिं साई॥

(१३)

कृतघन कबहुँ न मानही, कोटि करै जो कोय॥
सर्वस आगे राखिये, तऊ न अपनो होय॥
तऊ न अपनो होय, भले की भली न मानै।
काम काढ़ि चुप रहै, फेरि तिहि नहिं पहिचानै॥
कह गिरिधर कविराय, रहत नित ही निर्भय मन।
मित्र शत्रु सब एक, दाम के लालच कृतघन॥

(१४)

राजा के दरबार में, जैये समया पाय।
साईं तहाँ न बैठिये, जहँ कोउ देय उठाय॥
जहँ कोउ देय उठाय, बोल अनबोले रहिये।
हँसिये नहीं हहाय, बात पूछे ते कहिये॥
कह गिरिधर कविराय, समय सों कीजै काजा।
अति आतुर नहिं होय, बहुरि अनखैहैं राजा॥

(१५)

साईं समय न चूकिये, यथाशक्ति सन्मान।
को जाने को आइहै, तेरी पौरि प्रमान॥
तेरी पौरि प्रमान, समय असमय तकि आवै॥
ताको तू मन खोलि, अंक भरि हृदय लगावै॥
कह गिरिधर कविराय, सबै यामैं सधि आई।
शीतल जल फल फूल, समय जनि चूको साईं॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

आजकल हिन्दी गद्य और पद्य की जो नयी शैली दीख पड़ती है, उसको मूल रूप देने में भारतेन्दु बाबू का भारी हाथ है। वे काशी के एक प्रतिष्ठित और समृद्ध परिवार में एक प्रतिभावान् कवि का हृदय लेकर पैदा हुए थे। उनके पिता श्री गोपालचन्द्र भी एक अच्छे कवि थे। इन सब उपकरणों को देख कर सहसा ही श्रीमद्भगवद् गीता का यह श्लोक स्मरण हो आता है—

प्राप्य पुण्यकृता लोकानुषित्वा शाश्वती समाः।
शुचीना श्रीमता गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायेत॥

वे इस लोक में केवल ३४ वर्ष ही रह पाये किन्तु इतने ही स्वल्प जीवन-काल में उन्होंने हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में वह क्रान्ति उत्पन्न की थी जैसी धर्म-क्षेत्र में श्री शंकराचार्य ने।

भाद्र शुक्ल पंचमी सं० १६०७ उनकी जन्म तिथि है और माघ कृष्ण षष्ठी सं० १६४१ उनका निधनकाल। इतने स्वल्प जीवन में उन्होंने कुल मिलाकर छोटे बड़े १७५ ग्रन्थ लिखे हैं। नाट्यशास्त्र, नाटक, प्रहसन, कथा, कहानी, कविता और इतिहास आदि उच्च कोटि के साहित्य के किसी विषय को भी अछूता नहीं छोड़ा और सब में एक सी सफलता प्राप्त की है। उनकी कविता में माधुर्य, ओज और प्रसाद—तीनों गुणों के नमूने मिलते हैं और इन तीनों में उनकी विदग्धता के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। कविता की भाषा ब्रजभाषा भी है और खड़ीबोली भी। दोनों का ठाठ एक दूसरे से बढ़ा हुआ है। राष्ट्र के वे परम भक्त थे। उनकी अधिकाश रचनाओं में हमें राष्ट्रीय भावों का संदेश मिलता है। उनकी कविता को किसी भी श्रेष्ठ कवि की कविता के साथ रक्खा जा सकता है। उनके नाटकों की शैली नवीन है। उनमें कई तो पूरी सफलता के साथ खेले भी जा चुके हैं।

भारतेन्दु एक महान् कवि होने के साथ ही परम उदार और दानी भी

थे। उन्होंने हिन्दी के उन्नयन और संवर्द्धन के लिये अपनी लाखों की पूंजी को पानी की तरह बहा दिया था उनसे कई कवियों ने धन और मान प्राप्त किया। वे अपने समय के कई कवियों के निर्माता भी थे, और हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका आदि कई पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक भी। नीचे उनकी प्रसिद्ध और आज भी पढने में नवीन सी जान पड़ने वाली कुछ पुस्तकों के नाम दिए जाते हैं :—

प्रेम-माधुरी, प्रेम-फुलवारी, सत्य-हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, अन्धेर-नगरी, भारत-जननी, भारत-दुर्दशा, चन्द्रावली, नील-देवी।

भूलना नहीं चाहिए हरिश्चन्द्र उनका नाम है और 'भारतेन्दु' उनकी विद्वत्समाज की ओर से मिली हुई उपाधि। आज भी बनारस में हरिश्चन्द्र हाई स्कूल उनके नाम का स्मारक है, यह अब इंटर मीडियट कालेज हो गया है। भारतेन्दु हिन्दी नवयुग के प्रवर्तक थे।

विनय

(१) हरि हम कौन भरोसे जीएँ।
तुमरे रुख फेरे करुनानिधि काल-गुदरिया सीएँ॥
यों तो सब ही खात उदर भरि अरु सब ही जल पीएँ।
पै धिक धिक तुम बिन सब माधो बादिहिं साँसा लीएँ॥
नाथ बिना सब व्यर्थ धरम अरु अधरम दोऊ कीएँ॥
'हरीचन्द' जब तो हरि बनिहै कर-अवलम्बन दीएँ॥

(२) उमरि सब दुख ही माँहि सिरानी।
अपने इनके कारन रोअत रैन बिहानी॥
जहँ तहँ सुख की आसा करिके मन बुधि सह लपटानी।
जहँ तहँ धन संबंध जनित दुख पायो उलटि महानी॥
सादर पियो उदर भरि विष कहँ धोखे अमृत जानी।
'हरीचंद' माया-मंदिर सों मति सब बिधि बौरानी॥

(३)

तन-पौरुष सब थाका मन नहिं थाका हो माधो।
केस पके तन पक्यौ रोग सों मनुआँ तवहु न पाका॥
अर्जुन-भीम सरिस चाहत यह करन विषय-रन साका।
वीती रैन तबौ मतवारा घोर नींद में छाका॥
हारि गयो पै झूठहि गाड़े अबहूँ विजय-पताका।
'हरीचंद' तुम बिनु को रोकै ऐसे ठग को नाका॥

(४) अहो हरि वेहू दिन कब ऐहैं।
जा दिन मे तजि और संग सब हम ब्रज-वास बसैहैं॥
संग करत तिन हरि-भक्तन को हम नेकहु न अघैहैं।
सुनत श्रवन हरि-कथा सुधारस महामत्त ह्वै जैहैं॥
कब इन दोउ नैनन सों निसिदिन नीर निरंतर बहिहैं।
'हरीचंद' श्री राधे राधे कृष्ण कृष्ण कब कहिहैं॥

(५) करहु उन बातन की प्रभु याद।
जो अरजुन सों भारत-रन में कही थापि मरजाद॥
कैसहु होय दुराचारी पै सेवै मोहिं अनन्य।
ताही कहँ तुम साधु गुनहु या जग में सोई धन्य॥
सीघ्र धरम मति शांति पाइहैं जो राखत मम आस।
अरजुन मम परतिज्ञा जानहु नहिं मम भक्त-विनास॥
छाँड़ि धरम सब लोक वेद के मम सरनहिं इक आउ।
सब पापन सों तोहिं छुड़ैहों कछु न सोच जिय लाउ॥
कही विभीषन, सरन समय में सोऊ सुमिरहु गाथ।
लछिमन हनूमान आदिक सब याके साखी नाथ॥
हम तुमरे हैं कहैं एकहू बार सरन जो आइ।
ताहि जगत सों अभय करत तुम सबहि भाँति अपनाइ॥
यहू कह्यो मम जनहिं वासना उपजै और न हीय।

जिमि कूटे चुरए धानन मै उपजै नाहीं बीय ।।
यहू कह्यो तुम मो कहँ प्यारे निह-किंचन अरु दीन ।
यहू कह्यौ तुम हमहि जीव के प्रेरक अन्तर-लीन ।।
कहँ लौ कहौं सुनौ इतनी सब सत्यसंध महराज ।
'हरीचन्द' की बार भुलाई क्यौ ये घाते आज ।।

उद्‌बोधन

जागो जागो रे भाई

सोअत निसि बैस गँवाई । जागो जागो रे भाई ।।
निसि की कौन केह दिन बीत्यौ काल राति चलि आई ।
देखि परत नहि हित अनहित कछु परे बैरि बसि आई ।।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई ।
अवहूँ चैति पकरि राखौ किन जो कछु बची बड़ाई ।।
फिर पछिताये कछु नहिं ह्वै है रहि जैहौ मुँह बाई ।

घर की फूट

जगत मे घर की फूट बुरी ।

घर के फूटहि सों बिनसाई सुबरन लंक पुरी ।।
फूटहि सों सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो ।
जाको घाटो या भारत मैं अबलों नहिं पुजयो ।।
फूटहि सों जयचन्द बुलायों जवनन भारत धाम ।
जाको फल अबलों भोगत सब आरज होइ गुलाम ।।
फूटहि सों नव नन्द बिनासे गयो मगध को राज ।
चन्द्रगुप्त को नासन चाह्यो आपु नसे सह साज ।।
जो जग में धन मान और बल अपुनो राखन होय ।
तो अपुने घर मैं भूलेहू फूट करौ मति कोय ।।

मृतक का रूप

सोई मुख जेहि चंद बखान्यो । सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यो ।।
सोई भुज जो प्रिय गर डारें । सोइ भुज जिन नर विक्रम पारें ।।

सोई पद जिहि सेवक बन्दत। सोई छवि जेहि देखि अनन्दत॥
सोई रसना जहँ अमृत बानी। जेहि सुनिकै हिय नारि जुड़ानी॥
सोइ हृदय जहँ भाव अनेका। सोई सिर जहँ निज बच टेका॥
सोई छविमय अंग सुहाये। आजु जीव बिनु धरनि सुहाये॥
कहाँ गई वह सुन्दर सोभा। जीवत जेहि लखि सब मन लोभा॥
प्रानहुँ ते बढ़ि जा कहँ चाहत। ता कहँ आजु सबै मिलि दाहत॥
फूल बोझहू जिन न सहारे। तिन पै बोझ काठ बहु डारे॥
सिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी। करत कपाल-क्रिया तिन केरी॥
छिनहूं जे न भये कहुँ न्यारे। तेऊ बन्धुगन छोड़ि सिधारे॥
जो दृग कोर महीप निहारत। आजु काक तेहि भोज विचारत॥
भुजबल जेहि नहिं भुवन समाये। ते लखियत मुख कफन छिपाये॥
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे। गने काल सब एकहि लेखे॥
सुभग कुरूप अमृत विष साने। आजु सबै इक भाव बिकाने॥
पुरु दधीच कोऊ अब नाहीं। रहे नाम ही ग्रन्थन माहीं॥

यमुना-वर्णन

तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाये॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥

मनु आतप-वारन तीर को सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥१॥

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालनि-मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा।
कै उमगे प्रिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥

कै करिकै कर वहु पीय कों टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई ॥२॥
कै पिय पद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत ॥
कै ब्रज-तिय-गन वदन-कमल की झलकत झाई।
कै ब्रज हरिपद-परस-हेत कमला बहु आई ॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमण्डल वगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत ॥३॥
तिन पै जेहि छिन-ज्योति राका निसि आवति।
जल मैं मिलिकै नभ अवनी लौं तान तनावति ॥
होत मुकुरमय सबै तवै उज्ज्वल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ावति देखि सुन्दर सो सोभा ॥
सो को कवि जो छवि कहि सकै ता छन जमुना-नीर की।
मिलि अवनि और अम्बर रहत छबि इक सी नभ तीर की ॥४॥
परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो ॥
मनु हरि-दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छवि छायो ॥
कै रास रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति वसति वा प्रतिबिम्ब लखात है ॥५॥
कवहुँ होत सत चन्द कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन वस बिम्ब रूप जल में वहु साजत ॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत किलोलैं ॥
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ व्रज-रमनी जल आवती ॥६॥

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल॥
कै कालिन्दी नीर तरंग जितो उपजावत।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत॥
कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसिपति मल्ल अनेक विधि उठि बैठत कसरत करत॥७॥
कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त कहूँ जलकुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर बिबिध पंछी करत।
जल पान न्हान कर सुख भरे तट-सोभा सब जिय धरत॥८॥

पतिव्रता-धर्म

जग में पतिव्रत सम नहिं आन।
नारि हेतु कोउ धर्म न दूजो जग में यासु समान॥
अनसूया सीता सावित्री इनके चरित प्रमान।
पति देवता तीय जग धन गावत वेद पुरान॥
धन्य देस कुल जहँ निवसत हैं नारी सती सुजान॥
धन्य समय जब जन्म लेत ये धन्य ब्याह अस्थान॥
सब समर्थ पतिबरता नारी इन सम और न आन।
या ही ते स्वर्गहु में इनको करत सबै गुन गान॥

श्रीधर पाठक

पाठक जी का जन्म संवत् १९१६ में आगरा ज़िले के जोलंधरी नामक प्रा[म]
में हुआ था। बालपन से ही आपकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। पढ़ने-लिखने [में]
आप सदा आगे रहते थे। एँट्रेंस परीक्षा पास करने के बाद आपने सरका[री]

नौकरी कर ली और अपने अध्यवसाय और योग्यता के बल पर बहुत ऊँचे पद पर पहुँचे। अच्छी अंग्रेज़ी लिखने में आप बहुत कुशल समझे जाते थे।

आपकी रचना खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में मिलती है। खड़ीबोली के श्रेष्ठ कवियों मे आपकी गणना की जाती है। आपकी खड़ीबोली में ब्रजभाषा की सी माधुरी मौजूद है और ब्रजभाषा में खड़ीबोली का सा खड़ापन। गोल्डस्मिथ के 'Hermit' का अनुवाद 'एकान्तवासी योगी' और 'Traveller' का अनुवाद 'श्रान्त पथिक' आपकी खड़ीबोली की सुन्दर रचनाएं हैं और 'Deserted Village' का अनुवाद 'ऊजड़ गाम' और कालिदास के 'ऋतुसंहार' का अनुवाद आपकी ब्रजभाषा की रचनाएं हैं। 'भारत-गीत, में मातृभाषा, मातृभूमि और समाज की प्रतिष्ठा के सूचक जो आपके फुटकर पद मिलते हैं वे हमारी स्थायी सम्पत्ति हैं। आप प्रकृति-सौंदर्य के बहुत प्रेमी थे; 'काश्मीर-सुखमा' और 'देहरादून में' आपने उसके बहुत सुन्दर चित्र खींचे हैं। व्याकरण की दृष्टि से आपकी खड़ीबोली की रचनाओं में कुछ थोड़े दोष आगये हैं, किन्तु जब हम उनकी माधुरी पर ध्यान देते है तो वे नगण्य से प्रतीत होने लगते हैं। आपकी योग्यता और हिन्दी-प्रेम से प्रेरित होकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपने लखनऊ के अधिवेशन में आपको सभापति चुना था।

संवत् १९८५ आपका निधनकाल है।

सुसंदेश

अहो छात्र वर वृंद, नव्य भारत-सुत प्यारे।
मातृ गर्व-सर्वस्व मोद-प्रद, गोद-दुलारे॥
अहो भव्य भारत भविष्य निशि के उजियारे।
शुभ आशा विश्वास व्योम के रवि, विधु, तारे॥
गृह-जीवन-नव-ज्योति, प्रेम के प्रकृत-स्रोत तुम।
विनय-शील उद्योत, जगत के सुकृत स्रोत तुम॥

मातृ-भूमि के प्राण, मातृ-सुख संप्रदान तुम।
मातृ-सत्त्व संत्राण-कुशल, भुज-बल विधान तुम॥
आर्य-वंश-अक्षय-वट के अभिनव प्रवाल तुम।
आर्य-संत-जीवन-पट के सुठि तंतु-जाल तुम॥
आर्य-वर्ण-आश्रम-उपवन के फल रसाल तुम।
आर्य-कीर्ति-तन्त्री-गुण के स्वर, शब्द, ताल तुम॥
निज-सुजन्म-संतति-सरोज-वन के मृणाल तुम।
मानव-कुल-मानस-हृद के मंजुल मराल तुम॥
जग-सुकृत्य-रत भारत के सौभाग्य-भाल तुम।
प्रिय स्वदेश अन्तर के अन्तराल तुम॥
सुरुचि, सुवृत्ति, सुतेज, सुप्रेरित-मति-विशाल तुम।
सुघर सुपूत सुमाता के लाडले लाल तुम॥
भारत-लाज-जहाज-सुदृढ़-सुठि-कर्णधार तुम।
भारति-कंठ-विहार-विशद-मन्दार-हार तुम॥
निज-अभिरुचि निज-भाषा-भूषा-भेष-विधाता।
निज सत्ता, निज पौरुष, निज स्वत्वों के त्राता॥
निज-परता-भ्रम-रहित करौ निज-हित-विचार तुम।
हित-परता-क्रम-सहित करौ पर-हित-प्रचार तुम॥
सत-सेवा-व्रत धार जगत के हरौ क्लेश तुम।
देश-देश में करौ प्रेम का अभिनिवेश तुम॥
इस विधि से निस्संग करो सेवा-प्रसंग तुम।
फिर-फिर पर-हित-हेतु भरौ उर में उमंग तुम॥
सब विधि यों युव-वृंद बनौ नर-प्रवर बन्ध तुम।
ज्यों हरि-पद-अरविंद-भ्रमर, भुवि समभिनंद्य तुम॥

देश-गीत

जय जय प्यारा भारत-देश।
जय जय प्यारा, जग से न्यारा शोभित सारा, देश हमारा,
जगत-मुकुट जगदीश-दुलारा, जग सौभाग्य, सुदेश॥१॥

प्यारा देश, जय देशेश, अजय अशेष, सदय विशेष।
जहाँ न संभव अघ का लेश, संभव केवल पुण्य-प्रवेश ॥२॥
स्वर्गिक शीश-फूल पृथ्वी का, प्रेम-मूल, प्रिय लोकत्रयी का,
सुललित प्रकृति-नटी का टीका, ज्यों निशि का राकेश ॥३॥
जय जय शुभ्र हिमाचल-शृंगा, कल-रव-निरत कलोलिनि गंगा।
भानु-प्रताप-चमत्कृत अंगा, तेज-पुंज तप वेश ॥
जुग में कोटि-कोटि जुग जीवै, जीवन-सुलभ अमी-रस पीवै,
सुखद वितान सुकृत का सीवै, रहै स्वतंत्र हमेश ॥५॥

सान्ध्य अटन

(१)

विजन वन-प्रांत था, प्रकृति-मुख शांत था।
अटन का समय था, रजनि का उदय था॥
प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा, बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य-उत्फुल्ल-अरविंद-निभ नील सुविशाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा;
दिव्य दिङ् नारि की गोद का लाल सा या प्रखर भूख की यातना से प्रहित
धारणा-रक्त रस-लिप्सु अन्वेषणा युक्त या क्रीड़नासक्त, मृगराज-शिशु।
या अतिव क्रोध-संतप्त जर्मन्य नृप-सा; कि या अभ्र-बैलून-उर में छिपा।
इंद्र, या इंद्र का छत्र, या ताज, या स्वर्ग्य गजराज के भाल का साज, या
स्वर्ण-उत्ताल, या स्वर्ण का थाल-सा कभी यह भाव था, कभी वह भाव था;
देखने का चढ़ा चित्त में चाव था।

(२)

विजन वन शांत था, चित्त अभ्रांत था।
रजनि-आनन अधिक हो रहा कांत था—
उत्थान-उत्थान के साथ ही चन्द्र-मुख भी समुज्ज्वल लगै था अधिकतर भला।

(३)

उस विमल बिंब से अनति ही दूर, उस समय एक व्योम में बिंदु-सा लख पड़ा।
स्याह था रंग कुछ गोल-गति डोलता, किया अति रंग में भंग उसने खड़ा,

उतरते-उतरते आ रहा था उधर जिधर को शून्य सुनसान थल था पड़ा,
आम के पेड़ से थी जहाँ दीखती प्रेम आलिंगिता मालती की लता।

(४)

बस, उसी वृक्ष के सीस की ओर कुछ खड़खड़ाकार एक शब्द-सा सुन पड़ा
साथ ही पंख की फड़फड़ाहट, तथा, शत्रु निःशक की कड़कड़ाहट, तथा
पत्तियों में पड़ी हड़बड़ाहट, तथा कंठ औ' चोंच की चड़चड़ाहट, तथा
आर्ति-युत कातर-स्वर, तथा शीघ्रता युत उड़ाहट-भरा दृश्य इस दिव्य-दर्श
लुब्ध-दृग-युग्म को घृणित अति दिख पड़ा। चित्त अति चकित, अत्यन्त दुःखित हुआ

काश्मीर वर्णन

(१)

धनि धनि श्रीकाश्मीर-धरनि मन-हरनि सुहावनि।
धनि कश्यप-जस-धुजा, विश्व-मोहनि मन-भावनि॥
धन्य आर्य-कुल-धर्म-परम-प्राचीन-पीठ-थल ।
धन्य सारदा-सवनि अवनि, त्रैलोक्य-पुन्य-फल॥

(२)

धन्य पुरातन प्रथित धाम, अभिराम अतुल छवि।
स्वर्ग-सहोदर धरनि वरनि हारे कोविद कवि॥
प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति॥

(३)

विमल-अम्बु-सर-मुकुरन महँ मुख-बिम्ब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आपहि तन मन वारति॥
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी।
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तर-सारी॥

(४)

विहरति विविध-विलास-भरी जोबन के मद सनि॥
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति, बनि ठनि॥

मधुर मंजु छवि-पुंज-छटा छिरकति बन-कुंजन।
चितवति, रिझवति, हँसति, डसति, मुसक्याति, हरति मन॥

(५)

यहँ सुरूप सिंगार रूप धरि-धरि बहु भाँतिन।
सर, सरिता, गिरि, सिखर गगन, गह्वर, तरुवर, तृन॥
पूरन करिवे काज कामना अपने मन की।
किंकरता करि रह्यौ प्रकृति-पंकज-चरनन की॥

(६)

चहुँ दिसि हिमगिरि-सिखर, हरि-मनि मौलि-अवलि मनु।
स्रवत सरित-सित-धार, द्रवत सोइ चन्द्रहार जनु॥
फल फूलन छवि छठा छई जो वन उपवन की।
उदित भई मनु अवनि-उदर सों निधि रतनन की॥

(७)

तुहिन-सिखर, सरिता, सर, विपिनन की मिलि सो छवि।
छई मंडलाकार, रही चारहुँ दिसि यों फवि॥
मानहुँ मनिमय मौलि-माल-आकृति अलबेली।
बाँधी विधि अनमोल गोल भारत-सिर सेली॥

(८)

सुरपुर अरु कश्मीर दोउन में को है सुन्दर?
को सोभा कौ भौन रूप को कौन समुन्दर?
काकौं उपमा उचित देन दोउन में काकी?
याकौ सुरपुर की अथवा सुरपुर कौं याकी?

(९)

याकौं उपमा याही की मोहि देत सुहावै।
या सम दूजो ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवै॥
यहीं स्वर्ग सुरलोक, यही सुर-कानन सुन्दर।
यहि अमरन कौ ओक, यहीं कहुँ वसत पुरन्दर॥

(१०)

सो श्रीधर-दृग बसी प्रेम-अम्बुद-रस-दैनी।
पुन्य-अवनि सुख-सवनि, अलौकिक-सोभा-स्रैनी॥
पै सु यथारथ महिमा नहिं मोहि शक्ति बखानन।
सहसा नहिं कहि सकहिं रुकहिं सहसन सहसानन॥

(११)

कवि-गन कौ कल्पना-कल्प तरु काम-धेनु सी।
मुनियन कौं तप-धाम, ब्रह्म-आनन्द-ऐनु सी॥
रसिकन कौं रस-थान, प्रान, सर्वस जीवन, धन।
प्रकृति-प्रेमिनी कौ सुकेलि-क्रीड़ा-कलोल-बन॥

वन शोभा

चारु हिमाचल-आँचल में, एक साल विसालन को वन है।
मृदु मर्मर शील झरै जल-स्रोत हैं, पर्वत ओट है निर्जन है॥
लिपटे हैं लताद्रुम, गान में लीन, प्रवीन विहगन को गन है।
भटक्यौ तहाँ रावरो भूल्यो फिरै, मद बावरो सौ अलि कौ मन है॥
भारत में वन! पावन तू ही, तपस्वियों का तप-आश्रम था।
जग-तत्त्व की खोज में लग्न जहाँ, ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था॥
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था, सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा वन-वास की थी तब और, प्रभाव पवित्र अनूपम था॥

जगत-सचाई-सार

समझ के सारे जग को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है।
मिट्टी करके सर्वस अपना, मिट्टी में मिल जाता है॥
कभी नहीं ऐसा मूरख नर, सार सृष्टि का पाता है।
जैसा ही आया था जग में, वैसा ही वह जाता है॥
इस शरीर से जो मनुष्य नहिं, कुछ भी लाभ उठाता है।
उससे तो वह पशू भला जो, काम सैकड़ों आता है॥

उसका जन्म व्यर्थ है जो नर पौरुष कुछ न दिखाता है।
न इस लोक, ना उसी लोक में, हाथ उसे कुछ आता है॥
ऐसा कायर तो पृथ्वी को वृथा भार पहुँचाता है।
अपना जीना ही जिसको एक बड़ा बोझ हो जाता है॥
जो तन मन से करता है श्रम, उचित रीति से चलता है।
सारी वसुधा का क्रम-क्रम से, सर्वस उसको मिलता है॥
हाथ पैर और आँख कान, बुद्धि से काम जो लेता है।
जीवन का सुख पाता है वह, औरों को सुख देता है॥
पुत्र, कलत्र, मित्र, बाधव में, फैलाकर सच्चा आनन्द।
काम जगत का करता है वह, रहता है सुख से स्वच्छन्द॥
दुख कब ऐसे पुरुष-सिंह के, पास फटकने पाता है।
वह तो आलस का साथी है, आलसियों पर जाता है॥
जब तक तुम इस जग में सच्ची धर्म-रीति पर चलते हो।
तब तक निस्संदेह निरंतर, सब बातों में फलते हो॥
सारा सासारिक सुख पाकर ईश्वर को पहिचानो हो॥
उसकी विद्यमानता, सत्ता, वस्तुमात्र मे जानो हो॥
रचा उसी का है जब यह जग, निश्चय उसको प्यारा है।
इसमें दोष लगाना अपने लिए दोष का द्वारा है॥

*　　*　　*

जगत को झूठ-झूठा कह के करो नहीं उसका अपमान।
बुद्धि को अपने काम में लाओ, हे मनुष्य, हे बुद्धिनिधान॥
जिसको तुम जानो यह दुख है, सहो उसे धीरज के साथ।
दुख में सुख का अनुभव करना, है मनुष्य के अपने हाथ॥
दुख तो मनुष्य के जीवन की एक कसौटी है मानो।
इसमें जैसा रहे रंग, वैसा ही भाव उसका जानो॥
काम क्रोध अरु लोभ मोह भी जीवन के सहयोगी हैं।
इनके वश में जो पड़ता है उसी के ये प्रतियोगी हैं॥

इनको जो अपने मन से जड़ मूल मिटाना चाहते हैं।
वे असमर्थ कभी न जगत का सत उद्देश्य निबाहे हैं॥
जैसा यह जग बना हुआ है वैसा इसको पहचानो।
ईश्वर की व्यापकता इसमें सभी ठौर प्यारे जानो॥
देख-देख उसकी महिमा, गुण निशि-वासर उसके गाओ।
अर्थ धर्म अरु काम मोक्ष पाने में पौरुष दिखलाओ॥
रूप जगत का यथार्थ देखो, पड़ो भूल में कभी न तुम।
जीवन के कर्त्तव्य निबाहो, समझ के उसके शुद्ध नियम॥
चलोगे सच्चे मन से जो तुम निर्मल नियमों के अनुसार।
तो अवश्य प्यारे जानोगे सारा जगत-सचाई-सार॥

नाथूराम शंकर

पं० नाथूराम शंकर का जन्म सं० १९१६ में हरदुआगंज जिला अलीगढ़ में हुआ था। उनके पिता का नाम रूपराम शर्मा था। हिन्दी संस्कृत के अतिरिक्त वे कुछ अंगरेज़ी और उर्दू भी जानते थे। पाँच-छः वर्ष तक उन्होंने नहर विभाग में नौकरी की, फिर उसे छोड़ कर वैद्यक से ही अपनी आजीविका चलाने लगे। यह वैद्यक ही उनका आजीविन व्यवसाय रहा। वैद्य-मण्डल में वे एक पीयूषपाणि वैद्य समझे जाते थे। वे द्विवेदी-धारा के अच्छे कवि थे। द्विवेदी जी ने 'कविताकल्प' में जिन पाँच कवियों की कविता का संग्रह किया है, उनमें वे भी एक हैं। उनकी कुछ कविता उर्दू में भी मिलती है।

शंकर की कविता ब्रजभाषा में आरम्भ होती है और खड़ीबोली में समाप्त। उनका अधिकार दोनों भाषाओं पर समान था। वे शब्दों से खेलते थे, किन्तु कहीं-कहीं मन माने ढंग से। आर्यसमाज का उनके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा था। उनका काल आर्यसमाज का उत्क्रान्तिकाल था।

ने जितनी कविता की, है, प्रायः सब की सब सामाजिक विषयों पर। में समाज के उद्धार का ही उपदेश मिलता है। उपदेश देते समय ा रूप अत्यन्त रुद्र हो जाता है। 'कान्तासम्मित' 'हितञ्च मनोहारि' का उपदेश करना कवि का लक्ष्य होना चाहिए। हमारे शंकर इसका ठीक पालन नहीं कर पाये। उनके शब्दों का गठन उनके रुद्र होने थान-स्थान पर साक्षी देता है। उनकी कविता में अतिशयोक्ति की भी बहुत अधिक है जो स्वाभाविकता से बहुत आगे लाँघ गई है। किन्तु होने पर भी उनकी कविता कवित्व गुण से खाली नहीं। वे एक थे और प्रतिभाशाली कवि। उन्होंने घनाक्षरी छन्द में खड़ीबोली की ा करने की नींव रखी है।

अनुराग-रत्न, वायस-विजय, शंकर-सरोज, गर्भरण्डा-रहस्य आदि ी प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

सं० १९८८ उनका मृत्युकाल है।

ाव्य-निदर्शन

बीते दिन वसन्त ऋतु भागी। गरमी उग्र कोप कर जागी॥
ऊपर भानु प्रचण्ड प्रतापी। भू पर भबके पावक पापी॥
आतप वात मिले रस-रूखे। झाव झील सरोवर सूखे॥
जिन पूरी नदियों में जल है। उनमें भी काँदा दलदल है॥१॥
अवनीतल में तीत नहीं है। हिम-गिरि पै भी शीत नहीं है॥
पूरा सुमन-विकास नहीं है। और लहलही घास नहीं है॥
गरम-गरम आँधी आती है। भूभल वरसाती जाती हैं॥
झाँखर झाड़ रगड़ खाते हैं। आग लगे वन जल जाते हैं॥२॥
दीपक-ज्योति जहाँ जगती है। चमक चञ्चला-सी लगती है।
व्याकुल हम न वहाँ जाते हैं। जाकर क्या कुछ कर पाते हैं।
ग्राम-ग्राम प्रत्येक नगर में। घूमे घोर ताप घर-घर में॥
रुद्र-रोष दिनकर के मारे। तड़प रहे नारी नर सारे॥३॥

भीतर बाहर से जलते हैं। अकुला कर पंखे झलते हैं।
स्वेद बहे, तन डूब रहा है। घबराते, मन ऊब रहा है॥
काल पड़ा नगरों में जल का। मोल मिले उष्णोदक नल का।
वह भी कुछ घंटों बिकता है। आगे तनिक नहीं टिकता है॥

(५)

पावक-बाण दिवाकर मारे। हा! बडवानल फूँक पजारे॥
खौल उठे नद सागर सारे। जलते हैं जल-जन्तु बिचारे।
भानु-कृपा न कढ़े वसुधा से। चन्द्र न शीतल करे सुधा से।
धूप हुताशन से क्या कम है। हा! चाँदनी रात गरम है॥

(६)

जङ्गल गरमी से गरमाया। मिलती कहीं न शीतल छाया॥
घमस घुसी तरु-पुञ्जों में भी। निकले भभक निकुञ्जों में भी॥
सुन्दर बन, आराम घने हैं। परम रम्य प्रासाद बने हैं।
सब में उष्ण बयार बहती है। घाम घमस घेरे रहती है॥

(७)

विधि! यदि वापी, कूप न होते। तो क्या हम सब जीवन खोते?
पर पानी उनमें भी कम है। अब क्या करें नाक में दम है॥
कभी कभी घन रुप जाता है। वृषारूढ रवि छुप जाता है॥
जो जल बादल से झड़ता है। तो कुछ काल चैन पड़ता है॥

(८)

पान करें पाचक जल-जीरा। चखते रहें फुलाय कतीरा॥
बरफ गलाय छने ठंडाइ। औषधि पर न प्यास की पाई॥
बँगलों में परदे खस के हैं। बार-बार रस के चसके हैं॥
सुखिया सुख-साधन पाते हैं। इतने पर भी अकुलाते हैं।

(९)

खलियानों पर दाँय चलाना। फिर अनाज, भूसा बरसाना॥
पूरा तप किसान करते हैं। तो भी उदर नहीं भरते हैं॥

हलवाई, भुरजी, भटियारे। सोनी भगत, लुहार बिचारे॥
नेक न गरमी से डरते हैं। अपने तन फूँका करते हैं॥

(१०)

हा! बायलर की आग पजारे। झपटे झाय लपक लू मारे॥
उड़ती भूभल फोंक रहे है। जलते इञ्जन हाँक रहे हैं।
भानु ताप उपजावे जिस को। वह ज्वाला न जलावे किस को॥
व्याकुल जीव-समूह निहारे। हाय! हुतासन से सब हारे॥

(११)

जब दिन पावस के आवेंगे। वारि बलाहक बरसावेंगे॥
तब गरमी नरमी पावेगी। कुछ तो ठंढक पड़ जावेगी॥
भाट बने कालानल रवि का। ऐसा साहस है किस कवि का॥
'शंकर' कविता हुई न पूरी। जलती भुनती रही अधूरी॥

स्त पाठ

कब कौन अगाध पयोनिधि के, उस पार गया जलयान बिना।
मिल प्राण, अपान, उदान, रहें, तन में न समान सव्यान बिना॥
कहिये ध्रुव ध्येय मिला किसको, अविकल्प अचञ्चल ध्यान बिना॥
'कवि शङ्कर' मुक्ति न हाथ लगी, भ्रम-नाशक निर्मल ज्ञान बिना॥
पढ़ पाठ प्रचण्ड प्रमाद भरे, कपटी जन जन्म गमाय गये।
रण रोप भयानक आपस में, यह केवल पाप कमाय गये॥
धन, धाम बिसार धरातल में, धनवान असंख्य समाय गये॥
'कवि शङ्कर' सिद्ध मनोरथ की, जड़ शुद्ध सुबोध जमाय गये।
निगमागम तन्त्र पुरान पढ़े, प्रतिवाद प्रगल्भ कहाय खरे॥
रच दम्भ प्रपञ्च पसार घने, बन वंचक वेश अनेक धरे॥
बिचरे कर पान प्रमाद सुरा, अभिमान हलाहल खाय मरे।
'कवि शङ्कर' मोह महोदधि को, वकराज विवेक बिना न तरे॥
गुरुगौरव हीन कुचाल चलें, मतभेद पसार प्रपञ्च रचें।
दिन रात मनोमुख मूढ लड़ें, चहुँ ओर घने घमसान मचें॥

व्रत बन्धन के मिस पाप करें, हठ छोड़ न हाय लबार लचें।
'कवि शङ्कर' मोह महासुर से, बिरले जन पाय विवेक बचें॥
तन सुन्दर रोग-विहीन रहे, मन त्याग उमंग उदास न हो।
मुख धर्म-प्रसंग प्रकाश करे, नर-मण्डल में उपहास न हो॥
धन की महिमा भरपूर मिली, प्रतिकूल मनोज विलास न हो।
'कवि शङ्कर' यह उपभोग वृथा, पटुता प्रतिभा यदि पास न हो॥
जिस पै करतूत चली न किसी, नर, किन्नर, नाग सुरासुर की।
बल, साहस के फल से न भिड़ी, हठ भीरु, भगोड़ भयातुर की॥
गति उद्यम के मग में न रुकी, अति उच्च उमंग भरे उर की।
'कवि शङ्कर' पै बिन ज्ञान उसे, प्रभुता न मिली प्रभु के पुर की॥
कुलबोर कठोर महा कपटी, कब कोमल कर्म कलाप करें।
पशु पोच प्रचण्ड प्रमाद भरे, भर पेट भयानक पाप करें॥
प्रण रोप लबे लघु आपस में, तज बैर न मेल मिलाप करें।
'कवि शङ्कर' मूढ़ विवेक बिना, अपना गल-बन्धन आप करें॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म सं० १९२२ में आज़मग के निज़ामाबाद नाम के एक क़सबे में हुआ था। वर्नाक्यूलर मिडिल पास करने के बाद आप क्वींस कालेज बनारस में दाखिल हुए किन्तु अच्छा न रहने के कारण उसे छोड़ कर घर पर ही चार पाँच व अंगरेज़ी, फारसी और संस्कृत का सतत अभ्यास करते रहे। दो-ती अपने यहाँ के ही स्कूल में अध्यापन कार्य करने के बाद आप कानूनगो पर नियुक्त हो गये। लगभग ३१ वर्ष तक यह सरकारी नौकरी की, इस पेंशन पाने लगे। साहित्य से आपको आरम्भ से ही रुचि रही है। फारसी, संस्कृत, उर्दू, हिन्दी, बङ्गला—इन सब भाषाओं के काव्य

का आपने बहुत अच्छा अध्यन किया है। खड़ीबोली और ब्रजभाषा पर आपका एक सा अधिकार है। खड़ी बोली की कविता के आपने कई रूप बाँधे हैं, किसी पर उर्दू रंग ग़ालिब है, कहीं संस्कृत की छटा विराजती है और कहीं ठेठ हिन्दी का ठाट।

'प्रियप्रवास' आप की संस्कृत के ढंग की अनूठी महा-काव्य रचना है। उसमें आपका विरह-वर्णन और श्रीकृष्ण के पवित्र चरित्र का चित्रण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। प्रकृति सुन्दरी के भी आपने बहुत सुन्दर सजीव चित्र खींचे हैं। 'चुभते चौपदे' 'चोखे चौपदे' 'बोल चाल' आपकी उर्दू के ढंग की सुन्दर मुहावरेदार रचनाएं हैं। 'अधखिला फूल' नाम का एक उपन्यास भी आपने लिखा है। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' संस्कृत और फारसी के शब्दों से अछूनी एक गद्य रचना है। 'रसकलश' आपकी नवरसों पर एक नवीन रचना है। 'पद्यप्रसून' और 'कल्पलता' आपकी फुटकर कविताओं के संग्रह हैं। आप की इन सब रचनाओं का एक विशेष स्थान है। इस ढंग की अन्य रचनाए हिन्दी जगत में और कही नहीं मिलती। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद को आप दो बार सुशोभित कर चुके हैं और आपको 'प्रियप्रवास' रचना पर मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है। आजकल आप हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापन का कार्य कर रहे हैं।

बिबोधन

खुले न खोले नयन, कमल फूले, खग बोले,
आकुल अलि-कुल उड़े, लता-तरु-पल्लव डोले।
रुचिर रंग में रँगी उमगती ऊषा आई,
हँसी दिग्वधू, लसी गगन में ललित लुनाई।
दूब लहलही हुई पहन मोती की माला,
तिमिर तिरोहित हुआ, फैलने लगा उजाला।
मलिन रजनिपति हुए, कलुष रजनी के भागे;
रंजित हो अनुराग-राग से रवि अनुरागे।

कलित नूपुर की कल वादिता, जगत को यह थी जतला रही।
कब भला न अजीव सजीवता, परस के पद-पकज पा सकें ॥१०॥

(२)

सरस सुन्दर सावन-मास था, घन रहे नभ में घिर घूमते।
विलसती बहुधा जिन में रही, छविवती उड़ती बक-मालिका ॥१॥
घहरता गिरि-सानु समीप था, बरसता छिति-छू नव वारि था।
घन कभी रवि-अतिग-अंशु ले, गगन में रचता बहु चित्र था ॥२॥
नव-प्रभा परमोज्वल-लीक सी, गति-मती कुटिला-फणिनी-समा।
दमकती दुरती घन-अंक में, बिपुल केलि-कला-खनि-दामिनी ॥३॥
बिविध-रूप-धरे नभ में कभी, बिहरता बर-वारिद-व्यूह था।
बरसता बहु-पावन-वारि था, वह कभी सरसा करके रसा ॥४॥
सलिल-पूरित थी सरसी हुई, उमड़ते पड़ते सर-वृन्द थे।
कर-सुप्लावित कूल समस्त को, सरित थी स-प्रमोद प्रवाहिता ॥५॥
बसुमती पर थी अति-शोभिता, नवल कोमल-श्याम-तृणावली।
नयन-रंजन थी करती महा, अनुपमा तरु-राजि-हरीतिमा ॥६॥
हिल' लगे मृदु-मन्द-समीर के, सलिल-बिन्दु गिरा सुठि अंक से।
मन रहे किसका न बिमोहते, जल-धुले दल-पादप पुंज के ॥७॥
परम-म्लान हुई बहु-बेलि को, निरख के फलिता अति-पुष्पिता।
सकल के उर में रम सी गई, सुखद-शासन की उपकारिता ॥८॥
रस-मयी लख बस्तु-असंख्य को, सरसता लख भूतल-व्यापिनी।
समझ है पड़ता बरसात में, उदक का रस नाम यथार्थ है ॥९॥

सच्चे वीर

संकटों की तब करे परवाह क्या, हाथ झंडा जब सुधारों का लिया।
तब भला वह मूसलों को क्या गिने, जब किसी ने ओखली में सिर दिया ॥१॥
दूसरों को उबार लेते हैं, एक दो वीर ही विपद में गिर।
पर बहुत लोग पाक बनते हैं, ठीकरा फोड़ दूसरों के सिर ॥२॥

सामने पाकर बिपद की आँधियाँ, वीर मुखड़ा नेक कुम्हलाता नहीं।
देखकर आती उमड़ती दुख-घटा, आँख में आँसू उमड़ आता नहीं ॥३॥
सब दिनों मुँह देख जीवट का जिये, लात अब कायरपने की क्यों सहें।
क्यों न वैरी को बिपद में डाल दें, हम भला क्यों डालते आँसू रहें ॥४॥
वे कभी मात में नहीं आते, लग गई है जिन्हें कि सच्ची धुन।
वे भला आप सूख जाते क्या, मुख न सूखा जवाब सूखा सुन ॥५॥
काल की परवाह बीरों को नहीं, वह रहे उनको भले ही कूटता।
काम छेड़ा छूटता छोड़े नहीं, टूटता है दम रहे तो टूटता ॥६॥

पते की बातें

क्यों जम्हाई आ रही है बेतरह, इस तरह से आंख क्यों है झप रही।
देख लो सब ओर क्या है हो रहा, बात सुन लो, आँख खोलो तो सही।
जाति को है अगर जिला रखना, तो न मीठी को मान लें खट्टी
भेद का बाँध बाँधती बेला, आँख पर बाँध लें न हम पट्टी।
जोत में आइये जतन करिये, जागिये हो रहा सबेरा है
छल गये हैं इसी लिये अन्धे, आँख के सामने अन्धेरा है।
हैं बड़े ही कपूत कायर हम, जो बुरी तेवरिया हमें न खलें
ठोकरें देख जाति को खाते, ठीकरी आख पर अगर रख लें।

तो बला यों न बेलती पापड़, पाँव जाता न यों दुखों का जम
तो न खुल खेलती मुसीबत यों, जो खुला आख कान रखते हम ॥५॥
है घड़ा जो नहीं भरा पूरा, क्यों न तो बार बार वह छलके
जाति-हित का सवाल कोई भी, कर सके हल न पेट के हलके।
सुन सके बात हित भरी वे ही, हैं न जो लोग कान के बहरे।
क्यों कहें वे न पेट की बातें, हैं न जो लोग पेट के गहरे।
हम निबल भूल पर बहुत बिगड़े, पर सबल के सितम हुए न जगे।
लग गये पाव क्यों गये जल भुन, लग गई क्यों न आग लात लगे।

शिक्षा का उपयोग

शिक्षा है सब काल कल्प-लतिका-सम न्यारी;
कामद, सरस महान, सुधा-सिंचित, अति प्यारी।
शिक्षा है वह धरा, बहा जिस पर रस-सोता;
शिक्षा है वह कला, कलित जिससे जग होता।
है शिक्षा सुरसरि-धार वह जो करती है पूततम;
है शिक्षा वह रवि की किरण, जो हरती है हृदय-तम।
क्या ऐसी ही सुफलदायिनी है अब शिक्षा?
क्या अब वह है बनी नहीं भिक्षुक की भिक्षा?
क्या अब है वह नहीं दासता-बेड़ी कसती?
क्या न पतन के पाप-पंक में है वह फँसती?
क्या वह सोने के सदन को नहीं मिलाती धूल में?
क्या बन कर कीट नहीं बसी वह भारत-हित-फूल में?
प्रतिदिन शिक्षित युवक-वृन्द हैं बढ़ते जाते;
पर उनमें हम कहा जाति ममता हैं पाते?
उनमें सच्चा त्याग कहाँ पर हमें दिखाया;
देश-दशा अवलोक बदन किसका कुम्हलाया?
दिखलाकर सच्ची वेदना कौन कर सका चित द्रवित;
किसके गौरव से हो सकी भारतमाता गौरवित।
प्यारे छात्र-समूह, देश के सच्चे संबल,
साहस के आधार, सफलता-लता-दिव्य-फल,
आप सबों ने की ह सब शिक्षाएँ पूरी;
पाया वांछित ओक दूर कर सारी दूरी।
अब कर्म-क्षेत्र है सामने, कर्म करें, आगे बढ़ें;
कमनीय कीर्ति से कलित बन गौरव-गिरिवर पर चढ़ें।
है शिक्षा-उपयोग यही जीवन-व्रत पालें,
जहाँ तिमिर है, वहाँ ज्ञान का दीपक बालें।

तपी भूमि पर जलद-तुल्य शीतल जल बरसे;
पारस बन-बन लौहभूत मानस को परसे;
सब देश-प्रेमिकों की सुनें, जो सहना हो वह सहें;
उनके पथ में काँटे पड़े, हृदय बिछा देते रहें।
प्रभो, हमारे युवक-वृन्द निजता पहचानें;
शिक्षा के महनीय मंत्र की महिमा जानें;
साधन कर-कर सकल सिद्धि के साधन होवें,
जो धब्बे लगे, धैर्य से उनको धोवें।
सब काल सफलताएँ मिलें, सारी बाधाएँ टलें;
वे अभिमत फल पाते रहें; चिर दिन तक फूलें-फलें,

शान्ति

प्रबल जिस से हों दानव वृंद, अबल पर हो बहु अत्याचार;
कुसुम-कोमल उर होवे विद्ध, धरा पर बहे रुधिर की धार।
सूत्र मानवता का हो छिन्न, सदयता का हो भग्न कपाल;
लुटे सज्जनता का सर्वस्व, छिने सहृदयता-संचित माल।
हरण हो मानवीय अधिकार, लोक-बल जिससे होवे लुप्त।
आत्म-गौरव का हो संहार, सबल जातीय भाव हो सुप्त।
दलित हो भव-जन-पूजित भाव, अनादृत हों अवनी-अवतंस;
जाति-सुख-कल्प-वृक्ष हो दग्ध, लोक हित नंदन-वन हो ध्वंस।
पाप का होवे ताण्डव नृत्य, घरों में हो पैशाचिक कांड;
हो दनुज-अट्टहास की वृद्धि, विलोडित हो जिससे ब्रह्मांड।
है परम दुर्बल चित की वृत्ति, भ्रांत मन की है भारी भ्रांति;
है अवनितल अशांति की मूल, शांति वह कभी नहीं है शांति।

मैथिलीशरण गुप्त

अभी पूरे ४० साल भी नहीं बीते कि कविता की भाषा कौन सी होनी चाहिए इस सम्बन्ध में एक भारी विवाद उठा था। इस विवाद के प्रवर्तक थे— हिन्दी के प्राण, आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी। वे हिन्दी को व्यापक रूप देने के लिये चाहते थे कि छोटे से प्रान्त की व्रजभाषा के स्थान पर आम बोल चाल की भाषा—खड़ी बोली में ही कविता को द्रुतगति दी जाए। उन दिनों द्विवेदी जी के पक्ष की समर्थना करने वाले बहुत ही कम लोग थे, किन्तु वे थे त्र्यम्बक महादेव, उनकी तीसरी आँख खुली थी। वे हिन्दी के भूत और भविष्यत् को देखते थे, उन्होंने अपना हठ न छोड़ा और सरस्वती का सम्पादन कार्य हाथ में लेते ही खड़ीबोली के ढंग की कविता के एक स्कूल की नींव डाली। धीरे धीरे उनकी सत्प्रेरणा पाकर कई प्रतिभावान् युवक उस स्कूल में भर्ती होगये; जोरों से यह शिक्षा दी जाने लगी। उन नौसिखियों में गुप्त जी सब से आगे थे। द्विवेदी जी के सामने हिन्दी का और भी भारी काम था, वे स्वयं दो-चार अच्छे नमूने देकर और इस स्कूल का सारा भार गुप्त जी के कन्धों पर रख कर आप उससे अलग हो गये। गुप्त जी द्विवेदी जी का यह प्रसाद प्राप्त कर सचमुच 'प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्' का उदाहरण प्रमाणित हुए। बस, वह दिन और आज, गुप्त जी तब से उस स्कूल के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हैं। आज तक कवि के नाते जितना लोक-सम्मान इन्हें प्राप्त हुआ है, इस युग के और किसी भी कवि को नहीं प्राप्त हो सका। इनकी कविता की श्रेष्ठता की कसौटी यही 'लोक-प्रियता' है। इस सम्बन्ध में संस्कृत के एक कवि ने बहुत खूब कहा है—

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्यं, अन्यस्य गच्छति सुहृद् भवनानि यावत्।
न्यस्यविदग्धभवनेषु पदानि शश्वत्, कस्यापि संचरति विश्वकुतूहलीव॥

'सब से नीची श्रेणी के कवि वे होते हैं जिनकी कविता-सुन्दरी

अपने घर से बाहर नहीं लाँघ पाती। बीच की श्रेणी के कवि हैं जिनकी कविता अपने मित्रवर्ग तक ही पहुँच पाती है किन्तु सब से ऊँची श्रेणी के कवि वे होते हैं जिनकी कविता सारे विश्व के लिये कुतूहल की उत्पादक होती है।

गुप्त जी की कविता सचमुच सारे हिन्दी जगत् में कुतूहल की वस्तु है। उससे सारे राष्ट्र और हिन्दू समाज को जाग्रति मिली है।

कविता की भाषा व्याकरण के नियमों पर कसी हुई विशुद्ध खड़ीबोली है और उसके छन्द प्रायः संस्कृत के ढंग के हैं। उन्होंने कुछ नये मौलिक छन्दों की भी सृष्टि की है। राष्ट्र और समाज उनकी ये दो ध्येय वस्तुएं हैं। जो कुछ लिखा है, इन दोनों के उत्थान के लिये, इन दोनों में जाग्रति उत्पन्न करने के लिये 'भारत-भारती' उनकी पहली रचना है। इसमें हमारे भारत के अतीत और वर्तमान का चित्र खींचा गया है और वह कितना सुन्दर है, इसका प्रमाण है उसकी लोकप्रियता। आज तक उसके १६ संस्करण निकल चुके हैं। 'रंग में भंग' 'किसान' 'वैतालिक' 'स्वदेश संगीत' 'पत्रावली' 'हिन्दू' और 'गुरुकुल' में भी स्वदेश प्रेम का संगीत भरा है। 'जयद्रथवध' 'पंचवटी', सैरन्ध्री' 'शकुन्तला' 'वकसंहार' 'बन वैभव' 'साकेत' और 'यशोधरा' में आर्य-संस्कृति के उपदेश मिलते हैं। 'चन्द्रहास' 'अनघ' 'तिलोत्तमा' ये उनकी नाटक रचनाएं हैं। बङ्गला के कवि-कोकिल माईकल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद वध' और नवीनचंद राय के पलासी की युद्ध का' उन्होंने पद्यानुवाद किया है और उसमें पूर्ण सफल हुए हैं। उनकी 'साकेत' रचना पर उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है।

गुप्त जी की पुराय जन्मभूमि [illegible] ज़िला भ[illegible] उनके पिता का नाम सेठ श्री रामचरण गुप्त है [illegible] १९४३ [illegible] अधिकतर घर पर ही हुई थी। पिता [illegible] थे। [illegible] की प्रवृत्ति उन्हें पिता से ही मिली और [illegible] साहन[illegible] जी से। आपकी [illegible] त्यन्त सादा [illegible] अ[illegible]

'हसन हुसैन' पर उदार काव्य-रचना कर रहे है। हिन्दी जगत् आपको पाकर गौरवान्वित हुआ है। उसने आप की पूजा भी खूब की है।

धर्म की दशा

था धर्म-प्राण प्रसिद्ध भारत, बन रहा अब भी वही;
पर प्राण के बदले गले में आज धार्मिकता रही।
धर्मोपदेश सभा-भवन की भित्ति में टकरा रहा,
आडम्बरों को देखकर आकाश भी चकरा रहा! ॥१॥
बस, कागज़ी घुड़दौड़ में है आज इतिकर्त्तव्यता,
भीतर मलिनता हो भले ही, किन्तु बाहर भव्यता।
धनवान ही धार्मिक बने, यद्यपि अधर्मासक्त हैं,
हैं लाख में दो-चार सुहृदय शेष बगुला-भक्त है! ॥२॥
अनुकूल जो अपने हुए वे ही यहाँ सद्ग्रन्थ हैं;
जितने पुरुष अब हैं यहाँ उतने समझ लो पन्थ हैं।
यों फूट की जड़ जम गई, अज्ञान आकर अड़ गया,
हो छिन्न भिन्न समाज सारा दीन-दुर्बल पड़ गया ॥३॥
श्रुति क्यों न हो, प्रतिकूल हैं जो स्थल वही प्रक्षिप्त है,
विक्षिप्त से हम दम्भ में, आपाद-मस्तक लिप्त हैं!
आक्षेप करना दूसरों पर धर्मनिष्ठा है यहा,
पाखण्डियों ही की अधिकतर अब प्रतिष्ठा है यहां! ॥४॥
हम आड़ लेकर धर्म की अब लीन हैं विद्रोह में,
मत ही हमारा धर्म है, हम पड़ रहे हैं मोह में!
है धर्म बस निःस्वार्थता ही प्रेम जिसका मूल है;
भूले हुए हैं हम इसे कैसी हमारी भूल है! ॥५॥
जिसके लिए ससार अपना सर्वकाल ऋणी रहा,
उस धर्म की भी दुर्दशा हमने उठा रक्खी न हा!

जो धर्म्म सुख का हेतु है, भव-सिन्धु का जो सेतु है,
देखो, उसे हमने बनाया अब कलह का केतु है ॥६॥
उद्देश है बस एक, यद्यपि पथ अनेक प्रमाण हैं—
रुचि-भिन्नतार्थ किये गये जो ज्ञान से निर्माण हैं।
पर अब पथों को ही यहाँ पर धर्म हैं हम मानते।
करके परस्पर घोर निन्दा व्यर्थ ही हठ ठानते ॥७॥
प्रभु एक किन्तु असंख्य उनके नाम और चरित्र हैं,
तुम शैव, हम वैष्णव, इसी से हा अभाग्य! अमित्र हैं!
तुम ईश को निर्गुण समझते, हम सगुण भी जानते,
हा! अब इसीसे हम परस्पर शत्रुता हैं मानते ॥८॥

उत्तरा का अनुरोध

क्षत्राणियों के अर्थ भी सबसे बड़ा गौरव यही—
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आप ही।
जो वीर पति के कीर्ति-पथ में विघ्न-बाधा डालतीं—
होकर सती भी वह कहाँ कर्त्तव्य अपना पालतीं?
अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिए,
मत जाइए सम्प्रति समर में, प्रार्थना यह मानिए।
जाने न दूँगी आज मैं प्रियतम तुम्हें संग्राम में,
उठती बुरी हैं भावनाएं हाय! इस हृद्धाम में।
है आज कैसा दिन न जानें, देव-गण अनुकूल हों,
रक्षा करें प्रभु मार्ग में जो शूल हों वे फूल हों।
कुछ राज-पाट न चाहिए, पाऊँ न क्यों मैं त्रास ही;
हे उत्तरा के धन! रहो तुम उत्तरा के पास ही।

आश्वसन

श्रीवत्सलाञ्छन विष्णु तब कह कर वचन प्रज्ञा-पगे,
धीरज बँधाकर पाण्डवों को शीघ्र समझाने लगे॥

हरने लगे सब शोक उनका ज्ञान के आलोक में,
कुछ शान्ति देती है बड़ों की सांत्वना ही शोक में॥
"हे हे परन्तप! ताप सहकर चित्त में धीरज धरो,
हे धीर भारत! हो न आरत! शोक को कुछ कम करो।
पड़ता समय है वीर पर ही, भीरु कायर पर नहीं,
दृढ़-भाव अपना विपद में भी भूलते बुधवर नहीं॥
निज जन-विरह के शोक का दुख-दाह कौन न जानता,
पर मृत्यु का होना न जग में कौन निश्चित मानता?
सहनी नहीं पड़ती किसे प्रिय-विरह की दुस्सह-व्यथा?
क्या फिर हमें कहनी पड़ेगी आज गीता की कथा?
आते बुरे दिन बीतने पर मनुज के जग में जहाँ,
जाते हुए, कोई न कोई दुःख दे जाते वहाँ।
अतएव अब निश्चय तुम्हारे उदय का आरम्भ है,
होगा अधिक अब दुःख क्या? यह सब दुखों का खम्भ है।
जिस ज्ञान के बल से अनेकों विपद-नद तरते रहे,
जिस ज्ञान के बल से सदा ही धैर्य तुम धरते रहे।
हे बुद्धिमानों के शिरोमणि! ज्ञान अब वह है कहाँ?
अवलम्ब उसका ही तुम्हें लेना उचित है फिर यहाँ॥
निश्चय विरह अभिमन्यु का है दुखःदायी सर्वथा,
पर सहन करनी चाहिए फिर भी किसी विध यह व्यथा।
रण में मरण क्षत्रिय जनों को स्वर्ग देता है सदा,
है कौन ऐसा विश्व में जीता रहे जो सर्वदा?
हे वीर, देखो तो, तुम्हें यों देखकर रोते हुए,
हैं हँस रहे सब शत्रुजन मन में मुदित होते हुए।
क्या इस महा अपमान का, कुछ भी न तुमको ध्यान है?
क्या ज्ञानियों को भी विपद में त्याग देता ज्ञान है?

तुम कौन हो, क्या कर रहे हो, क्या तुम्हारा कर्म्म है!
कैसा समय, कैसी दशा, कैसा तुम्हारा धर्म्म है?
हे अनघ! क्या वह विज्ञता भी आज तुमने दूर की?
होती परीक्षा ताप में ही स्वर्ण के सम शूर की॥
जिस बात से निज वैरियों को स्वल्प-सा भी हर्ष हो,
है योग्य उसका त्याग ही, बाधा न क्यों दुर्द्धर्ष हो।
वह वीर ही क्या, शत्रु का सुख-हेतु हो जो आप ही,
निज शत्रुओं का तो बढ़ाना चाहिए सन्ताप ही।
जिन पामरों ने सर्वदा ही दुःख तुमको है दिया,
षड्यन्त्र रच रचकर अनेकों विभव सारा हर लिया।
उन पापियों के देखते है योग्य क्या रोना तुम्हें?
निज शत्रु-सम्मुख तो उचित है मुदित ही होना तुम्हें॥
निज सहचरी का शोक तो आजन्म रहता है बना,
पर चाहिए सबको सदा कर्त्तव्य अपना पालना।
हे विज्ञ! सो सब सोचकर यों शोक में न रहो पड़े,
लो शीघ्र बदला वैरियों से, धैर्य धर कर हो खड़े॥
मारा जिन्होंने युद्ध में अभिमन्यु को अन्याय से,
सर्वस्व मानो है हमारा हर लिया दुरुपाय से।
हे वीर वर! इस पाप का फल क्या उन्हें दोगे नहीं?
इस वैर का बदला कहो, क्या शीघ्र तुम लोगे नहीं?"

गुरु नानक

मिल सकता है किसी जाति को आत्मबोध से ही चैतन्य;
नानक-सा उद्बोधक पाकर हुआ पञ्चनद पुनरपि धन्य।
साधे सिख गुरुओं ने अपने दोनों लोक सहज-सज्ञान;
वर्तमान के साथ सुधी जन, करते हैं भावी का ध्यान।
हुआ उचित ही वेदीकुल में, प्रथम प्रतिष्ठित गुरु का वंश।
निश्चय नानक में विशेष था, उसी अकाल पुरुष का अंश।

सार्थक था 'कल्याण' जनक वह, हुआ तभी तो यह गुरुलाभ।
'तृप्ता' हुई वस्तुतः जननी, पाकर ऐसा धन अमिताभ।
पाने लगा निरन्तर वय के, साथ बोध भी वह मतिमन्त;
संवेदन आरम्भ और है, आत्म-निवेदन जिसका अन्त।
आत्मबोध पाकर नानक को, रहता कैसे पर का भान।
तृप्ति-लाभ करते वे बहुधा, देकर संत जनों को दान।
खेत चरे जाते थे उनके, गाते थे वे हर्ष समेत—
"भर भर पेट चुगो री चिड़ियो, हरि की चिड़ियाँ, हरि के खेत।"
निर्भय होकर किया उन्होंने साम्य-धर्म का यहाँ प्रचार,
प्रीति नीति के साथ सभी को शुभ कर्मों का है अधिकार।
सारे कर्मकाण्ड निष्फल हैं न हो शुद्ध मन की यदि भक्ति,
भव्य भावना तभी फलेगी जब होगी करने की शक्ति।
यदि सत्कर्म नहीं करते हो, भरते नहीं विचार पुनीत,
तो जप-माला-तिलक व्यर्थ हैं, उलटा बन्धन है उपवीत।
परम पिता के पुत्र सभी सम, कोई नहीं घृणा के योग्य,
भ्रातृभाव पूर्वक रह कर सब पाओ सौख्य-शान्ति-आरोग्य।

अछूतोद्धार

"इसका भी निर्णय हो जाए, नहीं अछूत मनुज क्या हाय?
अपमानित अवनत वे दीन, क्या पशुओं से भी हैं हीन?
मरें भले ही वे बेहाल, तो भी उनकी न हो सँभाल?

* * *

करें अशुचिता सब की दूर, उनसे घृणा करें सो क्रूर।
जिनके बल पर खड़ा समाज, रहती है शुचिता की लाज,
उनका त्राण न करना खेद,। है अपना ही मूलोच्छेद।

नहीं पियूँगा

"नहीं पीयूँगा, नहीं पियूँगा, पय हो चाहे पानी।"
"नहीं पियेगा बेटा, यदि तू तो सुन चुका कहानी।"

"तू न कहेगी तो कह लूँगा मैं अपनी मनमानी,
सुन, राजा वन में रहता था, घर रहती थी रानी।"
"और, हठी बेटा रहता था— नानी-नानी-नानी।"
"बात काटती है तू? अच्छा, जाता हूँ मैं मानी।"
"नहीं नहीं, बेटा, आ, तू ने यह अच्छी हठ ठानी,
सुनकर ही पीना, सोना मत, नई कहूँ कि पुरानी?

राहुल-जननी

चुप रह, चुप रह, हाय अभागे। रोता है, अब किसके आगे?
तुझे देख पाते वे रोता, मुझे छोड़ जाते क्यों सोना?
अब क्या होगा? तब कुछ होता,
सो कर हम खोकर ही जागे। चुप रह, चुप रह, हाय अभागे।
बेटा, मै तो हूँ रोने को, तेरे सारे मल धोने को;
हँस तू है सब कुछ होने को,
भाग्य आयँगे फिर भी भागे, चुप रह चुप रह, हाय अभागे।
तुझको क्षीर पिलाकर लूँगी, नयन-नीर ही उनको दूँगी,
पर क्या पक्षपातिनी हूँगी?
मैंने अपने सब रस त्यागे। चुप रह, चुप रह, हाय अभागे।

माँ, कह एक कहानी

"माँ, कह एक कहानी"।
बेटा, समझ लिया क्या तूने मुझको अपनी नानी!"
"कहती है मुझ से यह चेटी। तू मेरे नानी की बेटी।
कह माँ, कह, लेटी ही लेटी, राजा था या रानी?
राजा था या रानी? माँ कह एक कहानी।"
"तू है हठी मानधन मेरे, सुन उपवन में खड़े सवेरे,
तात भ्रमण करते थे तेरे, जहां सुर[illegible] नम।"
जहाँ सुरभि मनम[illegible] माँ, [illegible]।"

"वर्ण वर्ण के फूल खिले थे, झलमल कर हिम-बिन्दु झिले थे,
हलके झोंके हिले-मिले थे, लहराता था पानी।"
"लहराता था पानी ? हाँ, हाँ, यही कहानी।"
गाते थे खग कल कल स्वर से, सहसा एक हंस ऊपर से,
गिरा, बिद्ध होकर खर-शर से, हुई पक्ष की हानी ?"
"हुई पक्ष की हानी ? करुणा-भरी कहानी।"
चौंक उन्होंने उसे उठाया, नया जन्म-सा उसने पाया,
इतने में आखेटक आया, लक्ष्य-सिद्धि का मानी।"
"लक्ष्य-सिद्धि का मानी ? कोमल-कठिन कहानी।"
"मांगा उसने आहत पक्षी; तेरे तात किन्तु थे रक्षी,
तब उसने, जो था खग-भक्षी--हठ करने की ठानी ?
"हठ करेन की ठानी ? अब बढ़ चली कहानी।"
"हुआ विवाद सदय-निर्दय में, उभय आग्रही थे स्व-विषय में,
गई बात तब न्यायालय में, सुनी सभी ने जानी।"
"सुनी सभी ने जानी ? व्यापक हुई कहानी।"
"राहुल, तू निर्णय कर इसका न्याय पक्ष लेता है किसका ?
कह दे निर्भय, जय हो जिसका। सुन लूँ तेरी बानी।"
"माँ मेरी क्या बानी ? मैं सुन रहा कहानी।"
"कोई निरपराध को मारे, तो क्यों अन्य उसे न उबारे ?
रक्षक पर-भक्षक को वारे, न्याय दया का दानी।"
"न्याय दया का दानी ? तूने गुनी कहानी।"

साकेत के कुछ पात्र

कौसल्या

जाओ, तब बेटा ! वन ही, पाओ नित्य धर्म-धन ही।
जो गौरव लेकर जाओ, लेकर वही लौट आओ।

पूज्य-पिता-प्रण रक्षित हो, माँ का लक्ष्य, सुलक्षित हो।
घर में घर की शान्ति रहे, कुल में कुल की कान्ति रहे।
होते मेरे सुकृत कहीं, तो क्यों आती विपद यहीं।
फिर भी हों तो त्राण करें; देव सदा कल्याण करें।
और कहूँ क्या मैं तुमसे, वन में भी विक्रमो द्रुम-से।
फिर भी है इतना कहना——मुनियों के समीप रहना।
जिसे गोद में पाला है, जो उर का उजियाला है,
बहन, सुमित्रे ! चला वही,——जहाँ हिंस्र-पशु-पूर्ण मही !
यह गौरव का अर्जन है, या सर्वस्व-विसर्जन है?
त्याग मात्र इसका धन है, पर मेरा मा का मन है।
हा ! मैं कैसे धैर्य धरूँ ? क्या चिन्ता से दग्ध मरूँ ?
यदि मैं मर भी जाऊँगी, तो भी शान्ति न पाऊँगी।

राम

"अच्छा, ये पौधे कहो फलेंगे कब लौं ? हम और कहीं तो नहीं चलेंगे तब लौं !"
"पौधे ! सींचो ही नहीं, उन्हें गोड़ो भी, डालों को चाहो जिधर, उधर मोड़ो भी।"
"पुरुषों को तो बस राजनीति की बातें ! नृप में, माली में काट-छाँट की घातें।
प्राणेश्वर, उपवन नहीं, किन्तु यह वन है, बढ़ते हैं विटपी जिधर चाहता मन है।
बन्धन ही का तो नाम नहीं जनपद है ? देखो कैसा स्वच्छन्द यहाँ लघु नद है,
इसको भी पुर में लोग बाँध लेते हैं।", "हाँ वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं।"
"पर इससे नद का नहीं, उन्हीं का हित है, पर-बन्धन भी क्या स्वार्थ-हेतु समुचित है ?"
मैं तो नद का परमार्थ इसे मानूँगा, हित उसका उससे अधिक कौन जानूँगा ?
जितने प्रवाह हैं, बहें——अवश्य बहें वे, निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे।
केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी, है औरों की भी भार धारिणी-भरणी।
जनपद के बन्धन मुक्ति-हेतु हैं सब के, यदि नियम न हों, उच्छिन्न सभी हों कब के,
जब हम सोने को ठोक-पीट गढ़ते हैं, तब मान, मूल्य, सौन्दर्य, सभी बढ़ते हैं।
सोना मिट्टी में मिला खान में सोता, तो क्या इससे कृतकृत्य कभी वह होता ?"

"निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को, सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को।
मैं आर्यों का आदेश बताने आया, जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।
सुख-शान्ति-हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया, विश्वासी का विश्वास बचाने आया।
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं, जो विवश, विकल बल-हीन, दीन शापित हैं।
हो जाँय अभय वे जिन्हें कि भय भासित हैं, जो कौणप-कुल से मूक-सदृश शासित हैं।
मैं आया जिसमें बनी रहे मर्यादा, बच जाय प्रलय से मिटे न जीवन सादा।
सुख देने आया, दुःख झेलने आया, मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया।
मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया, गढ़ने आया हूँ, नहीं तोड़ने आया।
मैं यहाँ जोड़ने नहीं बाँटने आया, जगदुपवन के झंखाड़ छाँटने आया।
मैं राज्य भोगने नहीं, भुगाने आया, हंसों को मुक्ता-मुक्ति चुगाने आया।
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया, नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया, इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

उर्मिला

"कहा उर्मिला ने—हे मन! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा! हो अनुराग विराग भरा।
तू विकार से पूर्ण न हो, शोक-भार से चूर्ण न हो।
भ्रातृ-स्नेह-सुधा बरसे, भू पर स्वर्ग-भाव सरसे।"

  

यदि स्वामि-संगिनी रह न सकी, तो क्यों इतना भी कह न सकी—
"हे नाथ, साथ दो भ्राता का, बल रहे मुझे उस त्राता का।
है त्राण आज भी इष्ट मुझे, ये प्राण आज भी इष्ट मुझे।
रह कर वियोग से अस्थिर भी, देखूँ मैं तुम्हें यहाँ फिर भी।
है प्रेम स्वयं कर्त्तव्य बड़ा, जो खींच रहा है तुम्हें खड़ा।
यह मातृ स्नेह न ऊना हो, लोगों के लिए नमूना हो।
सुन कर, जीजी की मर्म-कथा, गिर पड़ी मैं, न सह सकी व्यथा।
वह नारि-सुलभ दुर्बलता थी, आकस्मिक-वेग विकलता थी।

करना न सोच मेरा इससे, व्रत में कुछ विघ्न पड़े जिससे।
आने का दिन है दूर सही, पर है, बस अब अवलम्ब यही।
आराध्य युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी, तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।"

भरत

"हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना,"
सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना।
"हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा?
हा! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा।
निज जननी ही के साथ हनन था मेरा।
अब कौन अभीप्सित और आर्य, वह किसका?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुँह फेरा।
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा।"

केकयी

"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को" चौंके सब सुन कर अटल केकयी-स्वर को।
सबने रानी की ओर अचानक देखा, वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्यतरंगा, वह सिंही अब थी हहा! गोमुखी गंगा—
"हां जन कर भी मैंने न भरत को जाना, सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया, अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।
दुर्बलता का ही चिन्ह विशेष शपथ है, पर अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है?

यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊं, तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ।
ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो, पाओ यदि उसमें सार उसे सब चुन लो।
करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊं, राई भर भी अनुताप न करने पाऊं ?"
थी सनक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती, रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती।
उल्का सी रानी दिशा दीप्त करती थी, सब में भय विस्मय और खेद भरती थी।
"क्या कर सकती थी, मरी मंथरा दासी, मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।
जल पंजर-गत अब अरे अधीर, अभागे, वे ज्वलित भाव थे स्वयं तुझी में जागे।
पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में? क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में ?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र, क्या तेरा ? पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा।
थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके, जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे, रे राम, दुहाई करूं और क्या तुझसे ?
कहते आते थे यही अभी नर-देही, माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,--'हैं पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'
बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा, दृढ हृदय न देखा मृदुल गात्र ही देखा।
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा, इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा!
युग युग तक चलती रहे कठोर-कहानी--रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा--'धिक्कार ! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'-"
"सौ वार धन्य वह एक लाल की माई, जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई--"सौ वार धन्य वह एक लाल की माई !"
हा ! लाल ? उसे भी आज गमाया मैं ने, विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने, हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है, शंकित सब से धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्रीखण्ड आज अङ्गार-चण्ड है मेरा, फिर इससे बढ़ कर कौन दण्ड है मेरा ?"
पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में, जन क्या-क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में ?
हा ! दण्ड कौन, क्या उसे डरूँगी अब भी ? मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी।
हा दया ? हन्त वह घृणा ! अहह वह करुणा। वैतरिणी-सी हैं आज जान्हवी वरुणा।

सह सकती हूँ चिरनरक, सुनें सुविचारी, पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भ
लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा, मैंने इसके ही लिये तुम्हें वन भे
घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों, कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब
मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे, मेरे दुगने प्रिय रहो न मुझ से न
मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम, अपने से पहले इसे मानते हो
तुम भ्राताओं के प्रेम परस्पर जैसा, यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है
तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा, मैं रहूँ पंकिला, पद्म-कोष है
आगत ज्ञानीजन उच्च भाल ले ले कर, समझावें तुमको अतुल युक्तियां दे
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा, उसने फिर तुमको आज भुजा भर भे
देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है, दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहां फलती

आभास

अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
कह, तू किन शब्दों में देगा युग युग का आभास !
देख इधर, वह विष ही पीते, हमें यहां कितने दिन बीते,
फिर भी अमृतपुत्र हम जीते, जिये, आत्म-विश्वास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
पुण्य-भूमि के इस अंचल में, सिन्धु और सरयू के जल में,
गंगा-यमुना के कल कल में, अगणित वीचि-विलास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास।
मन्त्रों का दर्शन, अवतारण, और दर्शनों का ध्रुव-धारण,
वह उपनिषदों का उच्चारण, योगों का अभ्यास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास।
आत्म-रूप का वह उजियाला, त्याग, योग, तप की वह ज्वाला,
पावन पवन तपोवन वाला, वह विकास, यह ह्रास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
कब की थी वह संचित माया, जो पसार कर अपनी काया।
पाकर राम-राज्य की छाया, करती थी सुख-वास ?

अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
बजी चैन की वंशी निर्भय, आया कलि के आगे अविनय,
फिर भी धर्मराज की जय जय, छाया वह उछ्वास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
हम उजड़ों ने भी बढ़ बढ़ कर, पार उतर, ऊपर चढ़ चढ़ कर,
देश बसाये हैं गढ़ गढ़ कर, तब भी बिना प्रयास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
संघ-शरण लेकर सुखदाई, फिर भी यहा शाति फिर आई,
गूँज गिरा गौतम की छाई, फिर नव भव-विन्यास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
उदासीनता की दोपहरी, श्रातिमयी निद्रा थी गहरी,
तब भी जाग रहे थे प्रहरी, कर न सका कुछ त्रास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
सहसा एक स्वप्न-सा आया, वह क्या क्या उत्पात न लाया,
जागे तो यह बन्धन पाया, हुआ हाय ! खग्रास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
किन्तु निराश न होना भाई, इसमें भी कुछ भरी भलाई;
तुमसे मोहन की मति पाई, उठने दो उल्लास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
निज बन्धन भी विफल न जावे, विश्व एक नूतन बल पावे,
बन्धु-भाव में वैर बिलावे, अनुपम ये दिन-मास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

संलाप

बोला घन गम्भीर-गिरा-पूर्वक भूतल से—
"करता हूँ मैं आर्द्र तुझे कैसा निज बल से ?"
भूतल ने तब कहा कि—"इसमें क्या संशय है,
मिला कहाँ से भला तुम्हें यह पावन पय, है ?"

घनमाला ने कहा सूर्य्य के सम्मुख जाकर--
"तेरा सारा तेज देखती हूँ मैं आकर।
बोला रवि मुँह फेर कि--"यह उसका ही फल है,
स्वकरों से जो तुझे पिलाया मैंने जल है।"

× × ×

फल से तरु ने कहा कि—"मैं गौरव हूँ तेरा,
रखता है अभिलाष देख सब कोई मेरा।
"ऐसा गौरव नहीं चाहिए"—बोला तरुवर—
"इसीलिए हैं लोग मारते मुझको पत्थर।"

× × ×

कहा बाण ने—"काम दूर तक मैं ही दूँगा,"
बोला चाप—"परन्तु सहायक जब मैं हूँगा।"
प्रत्यञ्चा ने कहा—"कहो सब अपनी अपनी,"
कर बोला—"है मुझे मौन माला ही जपनी।"

+ + +

बोला विकल पतङ्ग दीप में जलता जलता,
"फल ऐसा ही स्नेह-विटपि पर है क्या फलता?"
कहा दीप ने--महा कठिन है इसका धारण,
पहले ही जल रहा यहाँ मैं जिसके कारण।"

+ + +

बोला चुम्बक—"नीति-रीति कैसी है मेरी,"
कहा सार ने—प्रीति खींच लाती है तेरी।"

× × ×

"कहा वृक्ष ने—"उच्च और उपकारी हूँ मैं,—"
बोली बल्ली—"तभी सदैव तुम्हारी हूँ मैं।"

+ + +

कहा अनल ने—"अहा! तेज मेरा है कितना"।
जल ने उत्तर दिया कि—"मैं शीतल हूँ जितना!"

कहा व्योम ने "भूमि! पड़ी नीचे तू मरती,"—
"किन्तु शून्य तो नहीं"—व्योम से बोलती धरती।

\+ \+ \+

असि बोली—"है कौन सहायक और समर में?"
"हाँ, जो रक्षा करे"—ढाल बोली उत्तर में"।

माखनलाल चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी होशंगाबाद (मध्यप्रान्त) के एक गाँव 'बावई' के वासी हैं। नके पिता का नाम पं० नंदलाल चतुर्वेदी था। इनका जन्म सं० १९४५ में आ। इन्होंने नार्मल ट्रेनिंग स्कूल तक शिक्षा प्राप्त की और फिर खण्डवा एक स्कूल में अध्यापन कार्य करने लगे। अध्यापन काल में इन्होंने अंग्रेज़ी, स्कृत, बंगला और मराठी का अध्ययन भी जारी रखा। साहित्य की ओर नकी भारी रुचि थी। खण्डवा से उन्होंने 'प्रभा' नाम की एक पत्रिका भी नेकाली कुछ काल के बाद ये पं० माधवराय सप्रे के सम्पर्क में आ गये और अध्यापन कार्य छोड़ कर राजनीतिक कामों में भाग लेने लगे। उनके साथ मेलकर इन्होंने साप्ताहिक 'कर्मवीर' निकाला जो अब तक जारी है और जिसके अब ये प्रमुख सम्पादक हैं। बीच में पं० गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ 'प्रभा' और 'प्रताप' का भी सम्पादन कार्य कर चुके हैं। राजनीतिक क्षेत्र में इनको बहुमान प्राप्त है, राष्ट्रीय कविता लिखने में ये सर्वप्रधान कवि माने जाते हैं। इनका कविता का नाम 'भारतीय आत्मा' है और ये सचमुच आचार और विचार में भारतीय आत्मा ही हैं। खड़ीबोली के नवीन प्रमुख कवियों में इनका स्थान है। कविता में भावुकता है, छायावाद की श्रेणी की प्रेमानुभूति और राष्ट्रीय भावना है। सरलता और गहराई उसका विशेष गुण है। अपने आस-पास के लोग इन्हें 'नर्मदा तट का गायक' कह कर पुकारते हैं। इनका एक नाटक 'कृष्णार्जुन युद्ध' भी अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। ये गद्य के भी बड़े मार्मिक

लेखक हैं। इनकी शैली व्यंग तथा कला से पूर्ण है। 'साहित्य देवता' नामक कुछ सुन्दर निबन्ध भी लिखे हैं जो अभी अप्रकाशित हैं।

हृदय

(१)

धीर सा गम्भीर सा यह है खड़ा, धीर होकर यह अड़ा मैदान में।
देखता हूँ मैं जिसे तन-दान में, जन-दान में सानन्द जीवन-दान में॥
इट रहा जो दम्भ आदर प्यार से, बढ़ रहा जो आप अपनों के लिये।
डट रहा है जो प्रहारों के लिये, विश्व की भरपूर मारों के लिये॥
देवताओं के यहाँ पर बलि करो, दानवों का छोड़ दो सब दुखःभय।
"कौन है?"—यह है महान मनुष्यता, और है संसार का सच्चा "हृदय"

(२)

क्यों पड़ीं परतन्त्रता की बेड़ियाँ? दासता की हाय! हथकड़ियाँ पड़ीं।
क्यों क्षुद्रता की छाप छाती पर छपी? कण्ठ पर ज़ंजीर की लड़ियाँ पड़ीं॥
! दास्य भावों के हलाहल से हरे! मर रहा प्यारा हमारा देश क्यों?
! यह पिशाची उच्च शिक्षा सर्पिणी, कर रही वर वीरता निःशेष क्यों?
वह सुनो! आकाशवाणी हो रही, "नाश पाता जायगा तब तक विजय"
वीर?—"ना" धार्मिक?—"नहीं" सत्कवि?—"नहीं;
देश में पैदा न हो जब तक "हृदय"॥

(३)

देश में बलवान भी भरपूर हैं, और पुस्तक-कीट भी थोड़े नहीं।
हैं यहाँ धार्मिक ढके टकसाल के, पर किसी ने भी हृदय जोड़े नहीं॥
ठोकरें खातीं मनों की शक्तियाँ, राममूर्ति बने खुशामद कर रहे।
पूजते हैं देवता दबते नहीं; दीन, दब्बू बन करोड़ों मर रहे॥
"हे हरे! रक्षा करो"–यह मत कहो, चाहते हो इस दशा पर जो विजय।
तो उठो ढूँढो छुपा होगा कहीं, राष्ट्र का बलि देश का ऊँचा "हृदय"॥

(४)

फूल से कोमल, छबीला रत्न से, वज्र से दृढ़ शुचि सुगन्धी यज्ञ से।
अग्नि से जाज्वल्य हिम से शीत भी, सूर्य्य से देदीप्यमान मनोज्ञ से॥
वायु से पतला पहाड़ों से बड़ा, भूमि से बढ़ कर क्षमा की मूर्ति है।
कर्म का औतार रूप शरीर जो श्वास, क्या संसार की वह स्फूर्ति है॥
मन महोदधि है वचन पीयूष है, परम निर्दय है बड़ा भारी सदय।
कौन है ? है देश का जीवन यही, और है वह, जो कहाता है "हृदय"॥

(५)

सृष्टि पर अति कष्ट जब होते रहे, विश्व में फैलीं भयानक भ्रान्तियाँ।
दण्ड अत्याचार बढ़ते ही गये, कट गये लाखों, मिटी निश्रान्तियाँ॥
गढ़िया टूटीं असुर मारे गये--किस तरह ? होकर करोड़ों क्रान्तिया।
तब कहीं है पा सकी मातामही, मृदुल जीवन में मनोहर शान्तिया॥
बज उठी संसार भर की तालिया, गाळिया पलटीं—हुई ध्वनि जयति जय।
पर हुआ यह कब ? जहां दीखा अहो! विश्व का प्यारा कहीं कोई "हृदय"॥

प की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुर-बाला के गहनों में गूंथा जाऊं,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में, बिंध प्यारी को ललचाऊं,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊं,
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूं भाग्य पर इठलाऊं,
मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक॥

ति की अभिलाषा

तू चाहे मुझ को हरि! सोने का मढ़ा सुमेरु बनाना मत,
तू चाहे मेरी गोद खोद कर मणि-माणिक प्रगटाना मत।
तू मिट जाने तक भी मुझ में से ज्वालाएं बरसाना मत,
लावण्य लाड़ली वन-देवी का लीला-क्षेत्र बनाना मत।

जगतीतल का मल धोने को, भू हरी-भरी कर देने को,
गंगा जमना मैं वहा सकूं यह देना, देर लगाना मत।

त्याग का आदर्श

मत व्यर्थ पुकारे शूल-शूल कह फूल-फूल, सह फूल-फूल;
हरि को हीतल में बन्द किये केहरि से कह नख हूल-हूल।
कागों का सुन कर्त्तव्य-राग कोकिल-काकलि को भूल-भूल;
सुरपुर ठुकरा, आराध्य कहे, तो चल रौरव के कूल-कूल।
भू-खण्ड बिछा, आकाश ओढ़, नयनोदक ले, मोदक प्रहार,
ब्रह्माण्ड हथेली पर उछाल, अपने जीवन-धन को निहार।

जीवन-झरना

मेरी वीणा की कटुता धो डाल तरल तारों से;
मैं तुझ—सा पागल होके, बह उठूं हृदय-द्वारों से।
चढ़कर, गिरकर, फिर उठकर, कहता तू अमर कहानी,
गिरि के अंचल में करता कूजित कल्याणी वाणी।
क्या मेरे गीत मधुर हैं ? पड़ गया तुम्हारा पानी ?
ऊँचे-नीचे टीलों से, मैंने कब कही कहानी ?
पाषाणों से लड़कर भी ठंडक कब मैंने जानी ?
कब जी का मल धो पाता, मेरी आँखों का पानी ?
कब श्रमित पा सके मुझ में, शीतल तुषार की धारा ?
मैंने प्रियतम की रुख कब गिरकर उठकर पथ धारा ?
मैं भूमण्डल को कृति से हूं कुंभीपाक बनाता;
तू स्वर्गंगा बन कर के सुर-लोक मही पर लाता।
मैं उपकारी के प्रति भी, ममता बारूद बनाता;
हूँ अपनी कुटी जलाता, उसके घर आग लगाता।
तू 'मित्र'—प्रमत्त करों से ग्रीषम में प्राण सुखाता;
पर उसका स्वागत गाकर, किरनों पर अर्घ्य चढ़ाता।

मेरे गीतों की प्यारे ! बूँदें न सूखने पातीं;
विस्मृति पथ जोहा करती, अपना श्रृंगार बनाती।
पंछी-दल ने पर तेरे गीतों का गान किया है;
हरि ने तेरी वाणी को अमरत्त्व प्रदान किया है।
क्या जाने तरु पखेरू तुझ को लख क्यों जीते हैं!
तेरा कलकल पीते हैं, या तेरा जल पीते हैं?

के बालक

सुनावें यों बिजली के वाक्य, शीश भूपालों के झुक जायँ;
सृष्टि कट मरने से बच जाय, शस्त्र चाण्डालों के रुक जायँ।
पाप के पण्डे पावें दण्ड, दम्भ से दुनिया भर डर जाय,
भगीरथ मन की विनती मान, स्फूर्ति की गंगा कुछ कर जाय।
प्रेम के पालक हों या न हों, प्राणों के पूरे पालक हों;
भारती ने यों रोकर कहा, देश में ऐसे बालक हों।

त के भावी विद्वान्

आज कई वीरों के रहते हुआ न उन्नत हिन्दुस्तान,
बना सका कोई गुण, विद्या बल मे उसे न गौरववान।
तो भी धीरज धरो, डरो मत, मेरे आशाकारी प्राण,
देखो, कुछ कर दिखलावेंगे, भारत के भावी विद्वान ॥१॥
जिनको बाल समझ कर माता, दूध पिलाती सुधा-समान,
जिनको पाल हुई है जगतीतल में वह आनन्द-निधान।
जिनको लाल-लाल कह उसने भुला दिया सुख-दु.ख का ध्यान,
जानो उन्हें राष्ट्र की सम्पत् भारत के भावी विद्वान ॥२॥
हैं किस दुख से दुखी? विचारो, उनका हरो शीघ्र संताप,
क्यों दुर्बल हैं? क्यों रोते हैं? क्यों भूले हैं मधुरालाप?
माताओ! समझाओ उनको, देकर तन मन जीवन-दान,
देखो! दुखी न होने पावें भारत के भावी विद्वान ॥३॥

आर्य्य-कीर्ति के स्तम्भ, सौख्य के सेतु, महत्ता के अवतार,
कठिन समय में आशा के घन एक मात्र सच्चे आधार।
यही तुम्हारा कष्ट हरेंगे यही बनेंगे शक्ति-निधान,
पिता! प्राण दे पाले 'ये है भारत के भावी विद्वान ॥४॥
आओ इनकी शिक्षा के हित, उथल-पुथल कर दें संसार,
इन्हें बनावें कला-कुशल, नय-निपुण, वीर धीमान उदार।
डरें न प्रण पर मरें करें कर्त्तव्य बनावें दृढ़ सन्तान,
भारतीय हैं वही, बनावें भारत के भावी विद्वान ॥५॥
अब तो पिता निकम्मे होकर शिक्षा का कर सकें न यत्न,
राज्य, देश कोई न परखता, भरत-वसुमती के ये रत्न।
क्यों कर वह उन्नत होवेगा, खोवेगा अपना अज्ञान,
कई करोड़ मूर्ख हैं, हा! जिस भारत के भावी विद्वान ॥६॥
अन्न नहीं है; फीस नहीं है, पुस्तक है न सहायक हाय!
जी में आता है, पढ़ लिख लें, पर इसका है नहीं उपाय।
"कोई हमें पढ़ाओ भाई हुए हमारे व्याकुल प्राण;"
हा! हा! यों रोते फिरते हैं भारत के भावी विद्वान ॥७॥
बूट चाहिये सूट चाहिए कालर हैट और नकटाय,
केन चाहिये चेन चाहिए घड़ी सहित फिर डेली चाय।
देखो इस पर लिखा न होवे, कहीं "मेड इन हिन्दुस्तान",
क्योंकि हमीं तो हैं, इस बूढ़े भारत के भावी विद्वान ॥८॥
"शुभ्र वस्त्र हैं, बुद्धि शस्त्र है, पढ़ते हैं बन में निरशंक,
बढ़ा रही है बल वैभव को प्यारी मातृ-भूमि की अंक।
ब्रह्मचर्य रख सरस्वती पर दान करेंगे तन, मन, प्राण"।
ये हैं निस्सन्देह हमारे, भारत के भावी विद्वान ॥९॥
किनको होगा जन्म भूमि के कष्टों का पूरा अनुमान?
भाषा, भाव, भेष, भोजन में भारतीयता का अभिमान।

कौन हमारा दुःख हरेंगे; हमें करेंगे गौरववान?
यह सुन सच्चे हृदय कहेंगे, भारत के भावी विद्वान ॥१०॥
शिल्प गया वाणिज्य गया शुभ शिक्षा का है मान नहीं,
कृषि भी डूबी हुए दरिद्री पर इसका कुछ ज्ञान नहीं।
हाय! आज हम भोग रहे हैं झिड़की, घृणा और अपमान,
कैसे ये दुख दूर करेंगे, भारत के भावी विद्वान ॥११॥
प्रलय-कारिणी युवक-शक्ति की क्या सुन पाये बात नहीं?
भीष्म-प्रतिज्ञा, लव-कुश-कौशल, पार्थ-पुत्र-बल ज्ञात नहीं?
भूलो मत लिख लो निस्संशय, इसे हृदय में पक्की मान,
भारत का सब दु:ख हरेंगे भारत के भावी विद्वान ॥१२॥
सूरज सावधान हो जाओ, मातृभूमि तुम धर लो धीर,
पश्चिम! तू भी शीघ्र सम्हल ले, नीति बदल बन जा गम्भीर।
कर्म-क्षेत्र में आते हैं अब करने को जननी का त्राण,
कई करोड़ दुखों से व्याकुल भारत के भावी विद्वान ॥१३॥

रामनरेश त्रिपाठी

संयुक्त प्रान्त के जौनपुर जिले में कोइरीपुर एक गांव है, वहीं सं १९४६ पं० रामनरेश त्रिपाठी का जन्म हुआ था। हिन्दी के आप पण्डित, सुकवि, लेखक तथा काव्य कला के मर्मज्ञ हैं और उर्दू, गुजराती, अंग्रेज़ी और संस्कृत अच्छे जानकार। प्रकाशन आपका जीवन व्यवसाय है। आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बहुत काल तक मन्त्री भी रह चुके हैं। बालकों और नवयुवकों के लिये आपने बहुत सुन्दर साहित्य की सृष्टि की है। 'मिलन' 'पथिक' और स्वप्न' आपकी राष्ट्रीय भावों से भरी हुई रचनाएं हैं। हिन्दी-साहित्य में इन सब का खूब मान हुआ हैं। 'मानसी' आपकी फुटकर रचनाओं का संग्रह हैं। प्रकृति का चित्र उतारने में आपने अच्छी सफलता प्राप्त की है। 'कविता-कौमुदी'

के भिन्न-भिन्न भागों में जो आपने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, बङ्गला आदि की कविताओं का सुन्दर चयन किया है, उससे हिन्दी साहित्य की खूब समृद्धि हुई है। 'ग्रामगीत' के नाम से जो ग्राम्य कविताओं का संग्रह प्रस्तुत किया गया है, वह भी आदर की वस्तु है। अभी आप का इस दिशा में परिश्रम जारी है। 'रामचरितमानस की टीका' 'तुलसीदास और उनकी कविता', 'हिन्दी-शब्द-कल्पद्रुम', 'जयंत' आदि भी आपकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

अन्वेषण

मैं ढूँढता तुझे था जब कुंज और बन में,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की मुझ को पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में।
मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू,
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बन कर किसी के आसू मेरे लिये बहा तू,
आँखें लगी थीं मेरी तब मान और धन में।
बाजे बजा बजा के मैं था तुझे रिझाता,
तब तू लगा हुआ था पतितों के संगठन में।
मैं था विरक्त तुझ से जग की अनित्यता पर,
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में।
बेबस गिरे हुओं के तू बीच में खड़ा था,
मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहाँ चरण में।
तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं,
तू कर्म में मगन था मैं व्यस्त था कथन में।
तेरा पता सिकंदर को मैं समझ रहा था,
पर तू बसा हुआ था फ़रहाद कोहकन में।
क्रीसस की हाय में था करता विनोद तू ही,
तू अंत में हँसा था महमूद के रुदन में।

प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना,
तू ही मचल रहा था मंसूर की रटन में।
आख़िर चमक पड़ा था गांधी की हड्डियों में,
मैं था तुझे समझता सुहराव पीलतन में।
कैसे तुझे मिलूँगा जब भेद इस कदर है,
हैरान होके भगवन् आया हूं मैं शरण में।
तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में।
तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुस्लिमों में,
तू प्रेम क्रिश्चियन में, है सत्य तू सुजन में।
हे दीनबंधु ! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू,
देखूँ तुझे दृगों में मन में तथा वचन में।
कठिनाइयों दुखों का इतिहास ही सुयश है,
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में।
दुख में न हार मानूं सुख मे तुझे न भूलूं,
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में।

कर्म-माहात्म्य

(१)

यह संसार मनुष्य के लिए एक परीक्षा-स्थल है।
दुख है प्रश्न कठोर, देख कर होती बुद्धि विकल है॥
किन्तु स्वात्म-बल विज्ञ सत्पुरुष ठीक पहुंच अटकल से।
हल करते हैं प्रश्न सहज मे अविरल मेधा-बल से॥

(२)

यही लोक-कल्याण-कामना, यही लोक-सेवा है।
यही अमर करने वाले यश-सुरतरु का मेवा है।
जाओ पुत्र ! जगत में जाओ, व्यर्थ न समय गँवाओ।
सदा लोक-कल्याण-निरत हो जीवन सफल बनाओ॥

(३)

दुख में बन्धु वैद्य पीड़ा में, साथी घोर विपद में।
दुसह दीनता में आश्रय, उत्साह निराशा-नद में।
भ्रम में ज्योति, सुमति सम्पति में, दृढ़ निश्चय संशय में।
छल में कान्ति, न्याय प्रभुता में, अटल धैर्य वन भय में॥

(४)

जनता के विश्वास कर्म मन ध्यान श्रवण भाषण में।
वास करो, आदर्श बनो, विजयी हो जीवन-रण में।
अति अशान्त दुखपूर्ण विशृङ्खल क्रान्ति-उपासक जग में।
रखना अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ़ निश्चय प्रति पग में॥

(५)

जग की विषम आँधियों के झोंके सम्मुख सहना।
स्थिर उद्देश्य-समान और विश्वास-सदृश दृढ़ रहना।
जाग्रत नित रहना उदारता-तुल्य असीम हृदय में।
अन्धकार में शान्त चन्द्र-सा ध्रुव-सा निश्चल भय में॥

(६)

तुम्हें स्मरण करके उदार, संयमी, सच्चरित जन हों।
पर-दुख देख दूर करने को उत्सुकतामय मन हों।
जनता सुन कर नाम तुम्हारा एक भाव में जागे।
सत्य न्याय के संरक्षण में मुदित प्राण तक त्यागे॥

(७)

जग में सुख की प्राप्ति के लिए एक सहायक दुख है।
वही जगाता है सद्गुण को सद्गुण लाता सुख है।
बाधा, विघ्न, विपत्ति कठिनता जहाँ-जहाँ सुन पाना।
सब के बीच निडर हो जाना दुख को गले लगाना॥

(८)

गौर श्याम, उत्तम जघन्य, कुत्सित कुरूप सुन्दर का।
होता नहीं विचार प्रेम के शासन में निज पर का।
घृणित अछूत अकिञ्चन जग में जो जन हैं जितना ही।
तुमसे है यह प्रेम-प्राप्ति का पात्र अधिक उतनाही॥

(९)

सदा लोक-सौन्दर्य-वृद्धि की कवि-सम चिन्ता करना।
मत-दुख-सुख-विकार-वश होना प्रतिभा से पद धरना।
जो कहते हो जगत महामाया है, भीषण भ्रम है।
इस विचार में तुमको ही धोखा है, भ्रान्ति विषम है॥

(१०)

जगन्नियंता की इच्छा से यह संसार बना है।
उसकी ही क्रीड़ा का रूपक यह समस्त रचना है।
है यह कर्म-भूमि जीवों की, यहाँ कर्म,च्युत होना।
धोखे में पड़ना, अलभ्य अवसर से है कर धोना॥

(११)

एक अनन्त शक्ति वसुधा का सञ्चालन करती है।
वह स्वतन्त्र इच्छा से लय, उद्भव पालन करती है।
उसी शक्ति से ग्रह नियमित कक्षा में चकराते हैं।
किन्तु चीर कर महाशून्य को केतु निकल जाते हैं॥

(१२)

उसी शक्ति से सुन्दर घन से सुधा-बिन्दु झड़ता है।
करता हाहाकार वज्र पृथ्वी पर आ पड़ता है।
उसी शक्ति की सुखद प्रेरणा शुद्ध आत्म-सम्मति है।
करो उसी का कर्म, उसी की नियत समस्त प्रगति है॥

(१३)

परम विचित्र यन्त्र यह जग है उसी शक्ति से चलता।
मत करना अभिमान मिले जो तुमको कभी सफलता।
यद्यपि सब जग का हित-चिन्तन सब को आवश्यक है।
पर प्रत्येक मनुज पर पहला देश जाति का हक़ है॥

(१४)

पैदा कर जिस देश जाति ने तुमको पाला पोसा।
किये हुए है वह निज हित का, तुमसे बड़ा भरोसा।
उससे होना उऋण प्रथम है सत्कर्त्तव्य तुम्हारा।
फिर दे सकते हो वसुधा को शेष स्वजीवन सारा॥

(१५)

फिर कहता हूँ, डरो न दुख से कर्म-मार्ग सम्मुख है।
प्रेम-पंथ है कठिन, यहाँ दुख ही प्रेमी का सुख है।
कर्म तुम्हारा धर्म अटल हो कर्म तुम्हारी भाषा।
हो सकर्म मृत्यु ही तुम्हारे जीवन की अभिलाषा॥

राम कहाँ मिलेंगे ?

ना मन्दिर में ना मसजिद में ना गिरजे के आसपास में।
ना पर्वत पर ना नदियों में ना घर बैठे ना प्रवास में।
ना कुंजो में ना उपवन के शांति-भवन या सुख-निवास में।
ना गाने में ना बाने में ना आँसू में नहीं हास में।
ना छंदों में ना प्रबन्ध में अलङ्कार ना अनुप्रास में।
खोज ले कोई राम मिलेंगे दीन जनों की भूख प्यास में।

ज्ञान का दण्ड

(१)

सावन के श्याम घन शोभित गगन में धरा में रहे कानन विमुग्ध करते हैं
बकुल-कदंब की सुगंध से सना समीर, पूरब से आकर प्रमत्त करता है

पर दूसरे ही छन आकर कहीं से घूम, जाते हैं नयन में अकिंचन किसान गन।
सारे सुख साज बन जाते हैं विषाद रूप, ज्ञानी को है ज्ञान दंड सुखी है विमूढ़ जन।

(२)

देखत हैं मृग याद आती मृगलोचनी हैं, फिर भूखे भारत के दृग याद आते हैं।
केकी के कलाप कोकिला के कल गान में, विलाप विधवा का सुन हम दुख पाते हैं॥
अत्याचार पीड़ित किसान के रुदन में, पयोद के विनोद हम भूल भूल जाते हैं।
भोग सकते न सुख भूल सकते न दुख, यों ही दुविधा में पड़े जीवन बिताते हैं।

अन्यायी देश

(१)

जहाँ स्वार्थ-वश लोग प्यार करते हैं अन्यायी का,
होता है नर जहाँ स्वार्थ-वश शत्रु सगे भाई का।
जहाँ सत्यभाषण, सनेह सद्गुण के परिदर्शन का,
स्वार्थ हेतु है, भला वहाँ कल्याण कहाँ है जन का?

(२)

चोरी, जारी, छल, प्रपंच, पर-पीड़न आडम्बर से,
ओत-प्रोत है जहाँ मनुज का जीवन मद मत्सर से।
सर्वनाश की ओर विहँसते हुए बजाकर डंका,
जहाँ मूढ दौड़े जाते हैं फल की तज आशंका।

(३)

पुण्य-चरित सज्जन से विषयी कल्मष मध्य निवासी,
न्यायी से वञ्चक, दाता से कृपण विशेष विलासी।
जहाँ श्रमी से क्रयी-विक्रयी, वेश्या सुखी सती से,
निर्जन वन है परम सुखद उस न्याय-रहित जगती से।

सज्जन

चिर कृतज्ञ, सदा उपकार में, निरत पुण्य चरित्र अनेक हैं।
परहितोद्यत स्वार्थ बिना कहीं, विरल मानव हैं इस लोक में॥१॥

निज बड़प्पन की सुन के कथा, सकुचता जिसका चित चारु है।
विकसता सुन के पर कीर्ति है, जगत में वह सज्जन धन्य है ॥२॥
सुजन की यह एक विचित्रता, बहुत रोचक और मनोज्ञ है।
समझ के धन को तृण तुल्य भी, नमित हैं रहते उस भार से ॥३॥
सुजन के उर बीच कठोरता, कुलिश से बढ़ के रहती न जो।
वचन-सायक दुष्ट मनुष्य के, सह भला सकते इस भाँति वे ॥४॥
पड़ महज्जन घोर विपत्ति में, निज महत्त्व कभी तजते नहीं।
पड़ कपूर हुताशन बीच भी, सुरभि है सब ओर पसारता ॥५॥
वदन में मुद भाषण में सुधा, हृदय में जिसकी रहती दया।
परहितेच्छुक सो इस लोक में, पुरुष-पुंगव पूजन-योग्य है ॥६॥
उपजता उर में न कदापि है, यदि हुआ, क्षण में गत हो गया।
यदि रहा, समझो वह व्यर्थ है, खल-कृपा-सम सज्जन-कोप है ॥७॥
विटप छिन्न हुआ बढ़ता पुनः, न रहती विधु में नित क्षीणता।
सुजन के मन में यह देख के, विकलता बढ़ती न विपत्ति में ॥८॥
जल न पान स्वयं करती नदी, फल न पादप हैं चखते स्वयं।
जलद सस्य स्वयं चरते नहीं, सुजन-वैभव अन्य-हितार्थ है ॥९॥
यश मिले अथवा अपकीर्ति हो, धन रहे न रहे, कुछ क्यों न हो।
हृदय में रहते तक प्राण के, बुध नहीं तजते पथ धर्म का ॥१०॥

पांच सूचनायें

(१)

संदेहों में ग्रस्त प्रेम सा अस्त हुआ दिनकर था,
विरहोन्माद समान चन्द्र का उदय बड़ा सुखकर था।
एक वृहत् संगीत-महोत्सव अभी समाप्त हुआ था,
मन को मोद और रसना को कलरव प्राप्त हुआ था ॥

(२)

साबुन और तेल से धोये लिपे-पुते चमकीले,
मोछों की अनेक काट छँट से चित्रित परम सजीले।

मुख-मण्डल रूपी परदों में भिन्न-भिन्न आकृति के,
कितने ही सुर असुर छिपे बैठे थे भिन्न प्रकृति के॥

(३)

आँखों की खिड़कियाँ खोल कर दृश्य निहार रहे थे,
बातों की सुन्दर रचना से सुख विस्तार रहे थे।
प्रेम-पूर्ण नेत्रों से सब की ओर देख सुख पाके,
मन ही मन सुखदास मुदित था अपना विभव दिखाके॥

(४)

सोने चाँदी के पात्रों में व्यंजन विविध रसीले,
सज्जित देख मुदित, उत्सुक आतुर थे मित्र रंगीले।
इतने ही में एक अपरिचित व्यक्ति दिव्य तन धारी,
हुआ उपस्थित, देख चकित हो गई मंडली सारी॥

(५)

अभिमानी सुखदास क्रुद्ध हो बोला ऊँचे स्वर में,
"बिना बुलाये, बिना सूचना दिये किसी के घर में।
यों घुस आना असभ्य है ओ मनुष्य अज्ञानी!"
वह बोला, चुप रहो, शांत हो ऐ मनुष्य अभिमानी।

(६)

"मेरा नाम काल है मैं हूँ आया पास तुम्हारे,
तुमने अपनी करनी से है मुझे बुलाया प्यारे!
अति अभिमानी धन यौवन का मित्र! तुम्हारा मन है,
विषय-वासना-लिप्त कलंकित पाप पूर्ण जीवन है॥

(७)

संयम-हीन शरीर रोग का भवन सदा अपकारी,
मुझे बुलाने को है भाई! यही पुकार तुम्हारी।
अस्त्र-शस्त्र सज्जित सेना से रक्षित राजमहल में,
तोपों से नित सावधान अति दुर्गम सैनिक-दल में॥

(८)

सागर की छाती पर, गिरि पर सूने में, हलचल में,
सिंहों के घर में, कुञ्जों में मरुस्थलों में, जल में।
रोक-टोक आने-जाने की मुझको कहीं नहीं है।
आवश्यकता मुझे सूचना देने की न कहीं है॥

(९)

ऐ सुखदास, सुनो, मैं जाता हूँ जिस दिन उपवन में,
मच जाती है एक भयानक हलचल जड़ चेतन में।
गिरा-गिरा कर फूल नाम के आसू तरु रोते हैं,
नोच-नोच कर पक्षी अपने पर व्याकुल होते हैं॥

(१०)

धन यौवन के मद में तुमको मेरा तनक न डर है,
चलो देर मत करो, ठहरने का न मुझे अवसर है।"
सहम गया सुखदास काल की सुन कर निर्भय वाणी,
होते है डरपोक प्रकृति के प्रायः विषयी प्राणी॥

(११)

वह था जेंटिलमैन सँभल कर, शीघ्र होश में जागा,
सोचा बातों में न फँसेगा क्या यह काल अभागा।
बोला, "सच है काल, मिली है तुमको शक्ति निराली,
निमिषमात्र में कर सकते हो तुम इस तन को खाली॥

(१२)

पर तुम एक बार क्षण भर भी सोचो अपने मन में,
अभी कौन सा सुख भोगा है मैंने इस जीवन में।
धन यौवन से सुख पाने का अभी समय है आया,
मित्रों से आनन्द प्राप्ति का अब अवसर है पाया॥

(१३)

मैंने नया विवाह किया है आज वही उत्सव है,
गृह-सुख बाल-विनोद आदि का कहा हुआ अनुभव है?
फिर भी मुझको ले जाने को तुम इतने आतुर हो,
काल! सच कहो, तुम क्यों इतने वज्र-हृदय निष्ठुर हो॥

(१४)

तुमने कभी खिले फूलों को देखा है उपवन में?
तो भी क्या कुछ कोमलता उपजी न तुम्हारे मन में?
मुझे छोड़ दो; दान, पुण्य, व्रत, धर्म, कर्म कुछ कर लूँ,
जग में आया हूँ तो जग के सुख से भी मन भर लूँ॥

(१५)

धर्म पुण्य का मैंने अब तक कुछ न प्रयत्न किया है,
विषय-वासना ही को धन, यौवन सब सौंप दिया है।
घरवालों का, उद्यम का, परलोक प्राप्त करने का,
कुछ प्रबन्ध कर लेने दो, तब भय न रहे मरने का॥"

(१६)

सुन कर कहा काल ने, "अच्छा ऐ सुखदास! तुम्हारी,
विनय मान लेता हूँ मैं तुम बनो पुण्य-अधिकारी।
एक नहीं, मैं पांच सूचनाएँ देकर आऊँगा,
आशा है, तैयार उस समय मैं तुमको पाऊँगा॥

(१७)

अब तो तुम पाषाण-हृदय निर्दयी न मुझे कहोगे,
जाता हूँ, आशा है अन्तिम दिन तैयार रहोगे।
काल गया, सुखदास लौटकर मित्र-वर्ग में आया,
प्रमुदित हुआ कि आज काल को कैसा मूढ़ बनाया॥

(१८)

क्षण भर में क्षण भर पहिले की सारी बात बिसारी,
फिर आमोद-प्रमोद परस्पर हुए पूर्ववत् जारी।
निर्भय हो सुखदास समय विषयों मे लगा बिताने,
राग-द्वेष-वश उसने कुत्सित कर्म किये मनमाने॥

(१९)

जगदीश्वर ने दिये कई अवसर उसके जीवन में,
पर कुछ भी चेतना न उपजी उस लम्पट के मन में।
कई दिनों से भूख प्यास से विकल एक घरवाले,
बैठे थे असहाय दशा में कोई पुण्य कमा ले॥

(२०)

जगदीश्वर थे बाट जोहते पर सुखदास न आया,
मछली के शिकार में उस दिन वह था बहुत लुभाया।
निस्सहाय धनहीन दुखों से जर्जर एक निबल की,
मार्ग-पतित असमर्थ व्याधि से पीड़ित एक विकल की॥

(२१)

ईश्वर ने आहें लाकर उसके कानों में डालीं,
सुख में विघ्न समझ कर उसने और शराब चढ़ा ली।
ग़रीबिनी थी एक साथ थे बच्चे कई अभागे,
हरि ने लाकर खड़े किये सुखदास मूढ़ के आगे॥

(२२)

दुखिया के आँसू बन कर हरि ने निज रूप दिखाया,
पर सुखदास देखकर उसको नौकर पर झुंझलाया।
नौकर को भी उस दुखिया के साथ तुरन्त निकाला,
क्यों उसने यह दृश्य दिखा कर था मधु में विष डाला॥

(२३)

क्लब में जाकर विविध विषय पर ना,
पर निन्दा करने में तो वह ”।
हरि अवसर देते थे उसको का,
वह कहता था, भला मुझे अवकाश ग ॥

(२४)

इस प्रकार निश्चिन्त मूढ़-सा ाता,
राग रंग में उसे काल का ता।
अंग शिथिल हो गये, कामना में,
भला किसी का हो न सका उसके में ॥

(२५)

एक दिवस बैठा था सुख में ाता,
आ पहुँचा फिर काल वही ाता।
'अहो! मित्र सुखदास! समय हैं,
इस संसार परीक्षा-स्थल में हैं ॥

(२६

"अहो! क्या हुए सिर के
"जी हाँ, चालीस वर्ष हुए
"मित्र! एक भी दाँत नहीं
"जी हाँ, बीस पचीस

"टाँगों में क्या हुआ?
"जी हाँ पन्द्रह वर्ष होता है।
"सुनते हो कम, मुझे बहुत
"जी हाँ, कुछ

ना लेकर हिन्दी
। और सन्तों की
में सने हुए और
छ कवियों में आपकी
है

(२८)

"आँखों में भी तेज नहीं है धुँधलापन है छाया ?"
"जी हाँ, पाँच बरस से यह सब ईश्वर की है माया ?"
"अच्छा हो तैयार, तुम्हें ले चलने को हूँ आया,"
सुनते ही सुखदास चकित पीड़ित-सा हो घबराया॥

(२९)

कहने लगा, "हाय! मैंने तो कुछ भी की न तैयारी,
बातों ही बातों में मैंने उम्र बिता दी सारी।"
समय-चातुरी से धीरज धर फिर उसने की आशा,
बातों ही से पिंड छुड़ाने की उपजी अभिलाषा॥

(३०)

कहा, "महाशय काल! निठुर तुम हो यह विश्व विदित है,
पर झूठे भी हो, इस गुण से जगत नहीं परिचित है।
पाँच सूचनायें देकर तब तुम्हें चाहिये आना,
एक सूचना भी न मिली तुम आ पहुँचे मनमाना॥"

(३१)

सुन कर युक्ति काल के मुख पर कुछ मुसकाहट आई,
बोला—'ऐ सुखदास! सूचना पाँचों तुमने पाई।
है पहली सूचना सफेदी बालों पर फिर जाना,
तथा दूसरी दातों का है टूट टूट गिर जाना॥

(३२)

और तीसरी टांग और कटि का निर्बल हो जाना,
चौथी है सूचना कान का निर्गुण हो सो जाना।
और पाँचवीं है आँखों में धुँधलापन छा जाना,
तुमने इन पाँचों का मिलना स्वयं अभी है माना॥

(३३)

चलो, उठो, अब मैं न सुनूँगा कोई नया बहाना,
समय हाथ से निकल गया अब निष्फल है पछताना"।
व्यथित हुआ सुखदास कर सका कुछ न प्रबंध किसी का,
साथ रहे अरमान लगा जब धक्का काल बली का॥

(३४)

काल पकड़ ले गया गया सुखदास बहुत पछताता,
किन्तु गया वह एक सुखद उपदेश हमें बतलाता।
रात बीत जाती है केवल निद्रा और व्यसन में,
दिन पर-निंदा, राग-द्वेष, अभिमान उदर-पालन में॥

(३५)

सोचो मित्र! आत्म-चिन्तन का समय कहाँ रह जाता,
हीरा-सा जीवन है यह कौड़ी के बदले जाता।
काल सदा है सावधान हम ग़ाफ़िल क्यों सोते हैं,
क्यों न उच्च जीवन धारण कर कालजयी होते हैं॥

वियोगी हरि

वियोगी हरि जी पुराने भक्तिकाल के सन्त कवियों का चोलना लेकर हिन्दी जगत् में उतरे हैं। वही सन्तों की सी रहनी, सन्तों के से भाव और सन्तों की सी भाषा। सन्त उदार कोटि के, भाव वीरता और भक्ति में सने हुए और भाषा मीठी ब्रज बोली। आधुनिक काल के ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में आपकी गणना होती है। संस्कृत और फारसी साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। गद्य में भी लिखते हैं और उसमें भी सुन्दर कवित्व होता है। वीर रस के पात्र युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर इन चारों पर बहुत सुन्दर दोहे लिखे हैं। ईश्वर-प्रेम और विनय के पद भी बहुत सुन्दर हैं। इन सब में स्थायित्व है।

'वीर सतसई' आप की प्रसिद्ध रचना है; इस पर आपको मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है। 'छद्मयोगिनी' और 'वीर हरदौल' आपकी नाटक रचना है। 'कवि कीर्तन' 'अनुराग वाटिका' 'व्रज माधुरी सार' आदि निबन्ध और संग्रह ग्रंथ हैं और 'प्रेमयोग' 'आर्तनाद' और 'सन्त वाणी' बहुत सुन्दर गद्य काव्य।

आपका पूर्व नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है। आप का जन्म छत्रपुर रा (बुंदेल खण्ड) में सं० १९५३ में हुआ था। बहुत काल तक आप हिन्दी साहि सम्मेलन के मन्त्री रह कर सम्मेलन पत्रिका का सम्पादन करते रहे हैं। आज आप अछूतों की सेवा के उद्देश्य से 'हरिजन' का सम्पादन कर रहे हैं।

प्रकृत वीर

प्रकृतबीर कौ अंकहू परतु मंद नहीं तेज।
नहिं चाहतु चंदन चिता भीष्म छांडि सर-सेज॥
औसर आवत प्रान पै खेलि जाय गहि टेक।
लाखनु बीच सराहिये प्रकृतबीर सो एक॥
सुमृदु सिरीष-प्रसून तें, कठिन बज्र तें होय।
प्रकृत-बीर-हीय कौ चित्र न खींच्यौ कोय॥

पराधीनता

पराधीनता-दुख-भरी कटति न काटें रात।
हा! स्वतन्त्रता कौ कबै ह्वैहै पुण्य प्रभात॥
निजता सों तौ बैरु अब, है परता सों प्रीति।
निज तौ पर, पर निज भये, कहा दई! यह रीति॥
पर-भाषा, पर-भाव, पर-भूषन, पर-परिधान।
पराधीन जन की अहै यह पूरी पहचान॥
पतित वहै, नास्तिक वहै, रोगी वहै मलीन।
हीन, दीन, दुर्बल, वहै, जो जग अहै अधीन॥

दंभ दिखावत धर्म कौ, यह अधीन मति अन्ध ?
पराधीन अरु धर्म को, कहौ कहा संबंध ?
कत भूल्यौ निज देस, मति भई और तें और।
सहज लेत पहिचानि जब पसु-पंछिहुँ निज ठौर॥
लियौ धारि पर-भेष अरु पर-भाषा, पर-भाव।
तुम्हैं परायो देखि यौं, क्यों न होय हिय घाव ?
दई छाँड़ि निज सभ्यता, निज समाज, निज राज।
निज भाषाहू त्यागि तुम, भये पराये आज॥
परता में तुम परि गये, नहिं निजता कै लेस।
निज न पराये होयँ क्यों, बसौ जाय परदेस॥
है पर अब अपनेनु तें करत कहा तुम आस।
रँगे सियारनु पै कहौ करतु कौन विश्वास॥
मरनु भलो निज धर्म में, भय-दायक परधर्म।
पराधीन जानैं कहा, यह निज-पर कौ मर्म॥

वाधीनता

निज भाषा निज भाव, निज असन-बसन-निज चाल।
तजि परता निजता गहू, यह लिखियौ, बिधि ! भाल॥
वही धर्म, वहि कर्म, बल, वहि विद्या, वहि मन्त्र।
जासों निज गौरव-सहित होय स्वदेश स्वतन्त्र॥

पराधीन और स्वाधीन

पराधीन केहि काम कौ, जो सुरपति-सम होय।
सतत सुखी स्वाधीन, जनु, धनि, जगतीतल कोय॥
जौ अधीन, तौ छाँड़िये स्वर्गहुँ बिभव-विलास।
जौपै हम स्वाधीन, तौ भलो नरक कौ बास॥
पराधीन जौ जनु, नहीं स्वर्ग, नरक ता हेतु।
पराधीन जौ जनु नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु॥

अछूत

अपनावत अजहूँ न जे अपने अंग अछूत।
क्यों करि ह्वैहैं छूत वै करि कारी करतूत॥
जिन पायनु तें जान्हवी भई प्रगटि जग-पूत।
तिनही तें प्रगटे न ए तुम्हरे अनुज अछूत?
सुर-सरि औ अंत्यज दुहूँ अच्युत-पद-संभूत।
भयौ एक क्यों छूत, औ दूजो रह्यौ अछूत?
जौ दोउनु को एक ही कह्यौ जनक जग-बन्द।
तौ सुर-सरि तें घटि कहा यह अछूत, द्विज मन्द!
महा असिव हू सिव भयौ जाहि सीस पै धारि।
छुअत न तासु सहोदरनु, रे द्विज! कहा बिचारि॥

बाल विधवा

जहाँ बाल-विधवा-हियैं रहे धँधकि अंगार।
सुख-सीतलता कौ तहाँ करिहौ किमि संचार?
भलैं सुधा सींचौ तहाँ, फलु न लागिहै कोय।
जहाँ बाल-विधवान को अश्रु-पात नित होय॥
सुर-तरहू के फरन की मति कीजौ उत आस।
जाय बाल-विधवा निकसि जित ह्वै भरति उसाँस।

विविध

कोरी भोरी भावना ऐहै काम न आज।
बिनु साधैं सुचि साधना नहिं सरिहै कछु काज॥
बिना मान तजि दीजियौ स्वर्गहुँ सुकृत-समेत।
रहौ मान तौ कीजियो नरकहुँ नित्य निकेत॥
करै जाति स्वाधीन जो, साँचो सोइ सुपूत।
यौंतौ, कहु, केते नहीं कायर कूर कुपूत॥
ऐहैं याही ठौर हम, कहा फिरैं जग होत।
जैसे पंछी पोत कौ उड़ि आवतु पुनि पोत॥

को न अनय-मग पगु धरयौ लहि इहि कुमति-कुदानु ?
न्याय-भ्रष्ट भे भीष्महू लखि दुर्योधन-धानु ॥
भीरु छिपावतु जीव ज्यौं, कृपनु छिपावतु दामु।
सूर छिपावतु शक्ति त्यौं, चतुर छिपावतु नामु ॥
'जराधीन, अँगछीन हौं, दीन, दंत-नख-हीन।'
नहिं ऐसी चिंता कहूँ कबहुँ केहरी कीन ॥
रचि-रचि कोरी कल्पना बहुत जल्प ना मूढ़।
सहज सती अरु सूर को गति-रहस्य अति गूढ़ ॥
निबल, निरुद्यम, निर्धनी, नास्तिक, निपट निरास।
जग कादर करि देतु है नरहिं अंधविश्वास ॥
कठिन राम को काम है, सहज राम को नाम।
करत राम को काज जे, परत राम सों काम ॥
सतवारे सब है रहे मतवारे मत माहिं।
सिर उतारि सतधर्म पै कोउ चढ़ावत नाहिं ॥
बिन सींचे निज हीय तें सद्य रक्त-रस-धार।
कहँ स्वधर्म की लहलही रही डहडही डार ॥
नभ जिमि बिन ससि सूर के, जिमि पंछी बिन पाँख।
बिना जीव जिमि देह, तिमि बिना ओज यह आँख ॥
गये दिवस अब बिभव के, तजि दै विषय बिलास।
होय देस स्वाधीन कब, करि वा दिन की आस ॥
छिन छाँड़त, छिन गहत क्यों, रहत न एकहु ढंग।
पल-पल पलटत नीच तैं नित गिरगिट-ज्यौं रंग ॥
हृदय-जीत सी जीत नहिं, भरम भीति-सी-भीति।
धर्म-नीति-सी नीति नहिं, कृष्ण-प्रीति-सी प्रीति ॥
खंड-खंड ह्वै जाय बरु, देतु न पाछैं पैंड़।
लरत सूरमा खेत की मरत न छाँड़तु मेंड़ ॥

खल-मंडन, मंडन-सजन, सरल, सुहृद, सविवेक।
गुण-गँभीर, रण-सूरमा मिलतु लाख में एक॥
खल-घालक, पालक-सुजन, सुहृद, सदय गंभीर।
कहूँ एक सत लाख में 'प्रकृति सूर' रण-धीर॥
कहत महादानी उन्हें चाटुकार मतिकूर।
पीठिहुँ कौ कहिं देत जे कृपण दान रण-सूर॥
सदय, विवेकी, सत्यव्रत, हृदय लेखियतु सूर।
अविवेकी, क्रोधी, कुटिल, कादर कहियतु क्रूर॥
मति मन-मालिक सौंपियौ, कुटिल-कादरनु हाथ।
हैं वै ही सतजौहरी, नहिं जिन धर पै माथ॥
कादर बीरनु संग मिलि, भलैं अलापहिं राग।
छिपत न अंत बसत में कैसेहुँ कोयल काग॥
औघट घाट कृपाण को, समर-धार बिनु पार।
सनमुख जे उतरे, तरे, परे बिमुख मझँधार॥
धनि धनि, सो सुकृती व्रती, सूर-सूर सतसंध।
खड्ग खोलि खुलि खेत पै खेलतु जासु कबन्ध॥
कादर भये न सूर-सुत, करि देख्यौ निरधार।
नहिं सिंहिनि के गर्भ तें, उपजे कबहुँ सियार॥
कादर तौ जीवित मरत दिन में बार हजार।
प्रान-पखेरू बीर के उड़त एकहीं बार॥

अरे, फिरत कत, बावरे! भटकत तीरथ भूरि।
अजौं न धारत सीस पै सहज सूर-पग-धूरि॥
संगर-सौंहें सूर जहँ, भये भिरत चकचूरि।
बड़भागन तें मिलति वा रण-आँगन की धूरि॥

जे जन लोभी सीस के, ते अधीन दिन-दीन।
सीसु चढ़ायें बिनु भयौ, कहौ, कौन स्वाधीन?

अहे मधुप! गज-गंड-मदु पीजौ सोचि-विचारि।
छिन में ह्वीं या कुंभ कों देहै सिंह बिदारि॥
नहिं पावसु, नहिं घन-घटा, भई किंतै यह घोर?
करतु मत्त मृगराजु कहुँ, निसैं बीस बन रोर॥

उत्तरमाध्यमिककाल

जयशंकर प्रसाद

बाबू जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी में सं० १९४६ में हुआ था। उनके पिता का नाम बाबू देवीप्रसाद था। उनका अध्ययन प्रायः घर पर ही हुआ था। इतिहास, बौद्ध साहित्य, दर्शन शास्त्र और उपनिषद् ऐसे गंभीर विषयों में उन्हें बहुत प्रीति थी। बाबू देवीप्रसाद जी विद्वानों और कवियों का खूब आदर करते थे। प्रायः सप्ताह में एक बार घर पर कवियों की बैठक जमती थी, उन कवियों के साधु संग से ही प्रसाद जी को किशोरावस्था में कविता करने का चाव लगा था। पहले पहल वे व्रजबोली में ही कविता करते थे किन्तु थोड़े काल के बाद ही ज़माने का रुख को देखकर उन्होंने यह प्रवृत्ति बदली और वे खड़ी बोली में कविता करने लगे।

नव-नव उन्मेष-शालिनी प्रतिभा, व्यापक अध्ययन, गम्भीर चिन्तन और सुन्दर शिक्षा-अभ्यास--कविता के लिए यह सब सामग्री चाहिए। प्रसादजी में इनमें से एक की भी कमी नहीं थी। इसीलिए वे हिन्दी के कवि ही नहीं, एक महाकवि सिद्ध हुए। हिन्दी कविता में उन्होंने एक भव्ययुग की अवतारना की है। ऐसा जान पड़ता है, भारतेन्दु की आत्मा ही अपने शेष की पूर्ति के लिए नया चोला लेकर फिर से काशी में उतरी हो।

प्रसादजी की कविता में कविता का हृदय—करुण रस मौजूद है। उनकी भावुक कूँची का योग पाकर दुःख एक उपादेय वस्तु हो गया है। विरह वेदना के जो चित्र उन्होंने खींचे हैं, उनसे यह जान पड़ता है कि यह वेदना शाप

नहीं, वर वस्तु है, ईश्वर का प्रसाद है। उसमें आशा के दर्शन होते हैं। सूफियों के से प्रेम को उन्होंने अपनाया है किन्तु उसके चित्रण का ढंग बिल्कुल अनूठा है। उसमें वियोग और मिलन बहुत ऊँची वस्तु हैं, और वासना ज़रा भी स्थान नहीं पाई। मनुष्य को प्रकृति में प्रतिच्छायित दिखाकर उन्होंने छायावाद की सृष्टि की है और सकल विश्व में अव्यक्त ईश्वर की खोज कर रहस्यवाद की। वे जगत् को ईश्वर से भिन्न समझते, उनके लिए जगत् मिथ्या नहीं, ईश्वर का लीला-स्थान हैं, जहाँ कहीं वह आप ही खेल रहा है। उनकी कविता में जहाँ देखिये, उनके गम्भीर चिन्तन और दार्शनिकता के दर्शन होते हैं। उनके रहस्यवाद में भावुकता है सजीवता है, वह उनकी कल्पना का विषय नहीं।

प्रसादजी हिन्दी में भिन्नतुकान्त कविता के सब से पहले जन्मदाता हैं। समय था कि उनकी इस शैली की हँसी उड़ाई जाती थी किन्तु अब वह बात कहाँ है? अब तो हिन्दी के प्रायः सब नवीन कवि उनकी इस शैली का अनुसरण करने में अपना गौरव समझते हैं।

प्रसादजी की प्रतिभा का विकास सर्वतोमुखी हुआ है। उन्होंने केवल सुन्दर कविता ही नहीं की बल्कि सुन्दर और अपूर्व कहानिया, उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं। 'प्रेमपथिक' 'झरना' 'काननकुसुम' 'आँसू' 'लहर' 'कामायनी' उनके अनुपम काव्य अथवा कविता-संग्रह है। इन सब में 'कामायनी' उनकी अन्तिम और सर्व श्रेष्ठ रचना है। 'अजातशत्रु' 'जनमेजय का नागयज्ञ' 'स्कन्दगुप्त' और 'कामना' उनके आदर्श नाटक हैं और 'कंकाल' 'तितली' समाज का निर्माण करने वाले महत्वपूर्ण उपन्यास। 'आँधी' 'प्रतिध्वनि' और 'आकाश दीप' आदि उनकी मौलिक ढंग की सुन्दर कहानियों के संग्रह हैं। ऐसी रचनाओं के नाते उनको हिन्दी का रवीन्द्रबाबू कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। यह हिन्दी का दुर्भाग्य था कि वे संवत् १९९४ में केवल ४८ वर्ष की आयु में ही उसे विछोह देकर इस लोक से चल बसे।

प्रार्थना

जब प्रलय का हो समय, ज्वालामुखी निज मुख खोल दे;
सागर उमड़ता आ रहा हो, शक्ति-साहस बोल दे।

ग्रह गण सभी हों केन्द्र-च्युत, लड़ कर परस्पर भग्न हों;
उस समय भी हम हे प्रभो! तव पद्म-पद में लग्न हों।
हम हों सुमन की सेज पर, या कंटकों की बाड़ में;
पर प्राणधन! तुम छिपे रहना, इस हृदय की आड़ में।
हम हों कहीं इस लोक में, उस लोक में, भूलोक में;
तव प्रेम पथ में ही चलें, हे नाथ! तव आलोक में।

आदेश

कौन कहता है कानों में, किसी का कहना तू मत मान।
अन्ध विश्वास दिलाते वे, इसी में बनते हैं विद्वान॥
शुद्ध मानस की लहरी लोल, पंक्तियां पावन लिखीं विचित्र।
छोड़ ममता पढ़ ले इसको, यही है शुभ आदेश महान॥
तोड़ कर बाधा बन्धन भेद, भूल जा अहमिति के यह स्वार्थ।
सुधा भर ले जीवन घट में, द्वन्द्व का विष मत कर तू पान॥
प्रार्थना और तपस्या क्यों? पुजारी किस की है यह भक्ति।
डरा है तू निज पापों से, इसी से करता निज अपमान॥
दुखी पर करुणा क्षण भर हो, प्रार्थना पहरों के बदले।
मुझे विश्वास है कि वह सत्य, करेगा आकर तव सम्मान॥

आंसू

चातक की चकित पुकारें श्यामा-ध्वनि तरल रसीली,
मेरी करुणार्द्र-कथा की टुकड़ी आँसू से गीली।
बेसुध जो अपने सुख से जिनकी हैं सुप्त व्यथायें,
अवकाश भला है किनको सुनने की करुण कथायें।
जीवन की जटिल समस्या है बढ़ी जटा सी कैसी,
उड़ती है धूल हृदय में किसकी विभूति है ऐसी?
जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई।

शीतल ज्वाला जलती है ईंधन होता दृग-जल का,
यह व्यर्थ साँस चल-चल कर करती है काम अनिल का।
बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र-लोक फैला है जैसे इस नील निलय में।

अशोक की चिन्ता

जलता है यह जीवन-पतंग
जीवन कितना? अति लघु क्षण, ये शलभ पुञ्ज से कण-कण,
तृष्णा वह अनल शिखा बन—दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने की क्यों न उठे उमंग!
है ऊँचा आज मगध-शिर—पदतल में विजित पड़ा गिर;
दूरागत क्रन्दन-ध्वनि फिर क्यों गूँज रही है अस्थिर—
कर विजयी का अभिमान भंग!
इन प्यासी तलवारों से, इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारों से, उन हिंसक हुंकारों से,
नत-मस्तक आज हुआ कलिंग
यह सुख कैसा शासन का? शासन रे मानव मन का!
गिरि-भार-बना सा तिनका, यह घटाटोप दो दिन का—
फिर रवि शशि किरणों का प्रसंग!
यह महा दम्भ का दानव, पीकर अनंग का आसव—
कर चुका महा भीषण रव, सुख दे प्राणी को मानव—
तज विजय-पराजय का कुढंग।
संकेत कौन दिखलाती, मुकुटों को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती, नश्वरता गीत सुनाती,
तब नहीं थिरकते हैं तुरंग।
वैभव की यह मधुशाला, जग पागल होने वाला,
अब गिरा-उठा मतवाला, प्याले में फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रंग।

काली काली अलकों में, आलस, मद-नत पलकों में,
मणि मुक्ता की झलकों में, सुख की प्यासी ललकों में,
देखा क्षण-भंगुर है तरंग।
फिर निर्जन उत्सव-शाला, नीरव नूपुर श्लथ माला,
सो जाती है मधुबाला, सूखा लुढ़का है प्याला,
बजती वीणा न वहाँ मृदंग।
इस नील विषाद गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में,
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका-बन में—
उलझा है चंचल मन कुरंग।
आँसू कन-कन ले छल छल, सरिता भर रही दृगंचल,
सब अपने में है चंचल, छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का है निषंग।
वेदना विकल यह चेतन, जड़ का पीड़ा से नर्तन,
लय सीमा में यह कम्पन, अभिनयमय है परिवर्तन,
चल रहा यही कब से कुढंग।
करुणा-गाथा गाती है, यह वायु बही जाती है,
ऊषा उदास आती है, मुख पीला ले जाती है,
बन मधु पिङ्गल सन्ध्या सुरंग।
आलोक किरन है आती, रेशमी डोर खिंच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती, फिर तम-पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग।
जब पल भर का है मिलना, फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना, फिर सूख धूल में मिलना,
तब क्यों चटकीला सुमन-रंग?
संसृति के विक्षत पग रे! यह चलती है डगमग रे!
अनुलेप सदृश तू लग रे! मृदु दल बिखेर इस मग रे!
कर चुके मधुर मधु पान भृंग।

भुनती वसुधा, तपते नग, दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं प्रति पग, जलती सिकता का यह मग,
वह जा बन करुणा की तरंग, जलता है यह जीवन पतंग।

कर्म-लोक

"मनु यह श्यामल कर्म लोक है, धुँधला कुछ कुछ अँधकार सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह देश मलिन है धूम धार सा ॥१॥
कर्म-चक्र सा घूम रहा है यह गोलक, बन नियति प्रेरणा;
सब के पीछे लगी हुई है कोई व्याकुल नयी एषणा ॥२॥
श्रम-मय कोलाहल, पीड़न-मय विकल प्रवर्त्तन महायंत्र का;
क्षणभर भी विश्राम नहीं है प्राण दास है क्रिया तंत्र का ॥३॥
करते हैं संतोष नहीं है जैसे कशाघात प्रेरित से—
प्रति क्षण करते ही जाते हैं भीति विवश ये सब कंपित से ॥४॥
नियत चलाती कर्मचक्र यह तृष्णा जनित ममत्व वासना;
पाणि-पादमय पंच-भूत की यहाँ हो रही है उपासना ॥५॥
यहाँ सतत संघर्ष, विफलता कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही मतवाला यह सब समाज है ॥६॥
यहाँ शासना देश घोषणा विजयों की हुंकार सुनाती,
यहाँ भूख से विकल दलित को पदतल में फिर फिर गिरवाती ॥७॥

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

मेदनीपुर बङ्गाल में महिषादल एक छोटी सी रियासत है। पं० रामसहायजी त्रिपाठी उस रियासत के एक राज्य कर्मचारी थे। निराला जी उन्हीं की एक मात्र सन्तान हैं। इनका जन्म सं० १९५१ में हुआ था। इनकी शिक्षा की व्यवस्था रियासत की ओर से हुई, ये स्कूल में मैट्रिक्यूलेशन तक पढ़े। कविता करने का चाव इन्हें बचपन से ही लगा था। मातृ-भाषा बङ्गला

होने के कारण पहले पहल कविता की भाषा भी बङ्गला ही रही। हिन्दी इन्होंने स्कूल-काल के बहुत पीछे ही सीखी। स्कूल छोड़ कर इन्होंने संस्कृत-साहित्य, संगीत और दर्शन का अध्ययन किया और थोड़े ही काल में इन सब में दक्षता प्राप्त कर ली।

२० वर्ष की अवस्था में इनकी पत्नी का देहान्त हो गया और ये अपना घर छोड़ कर कलकत्ते में आगये। वहाँ श्रीरामकृष्ण आश्रम में रह कर इन्होंने परमहंस श्री रामकृष्णदेव और स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया। इन विचारों की छाप इनके हृदय पर गहरी पड़ी। ये दो वर्ष तक उस आश्रम के वेदान्त सम्बन्धी मासिक पत्र 'समन्वय' को सम्पादन भी करते रहे। आश्रम और उसके इस पत्र से इनकी प्रतिभा को बहुत स्फूर्ति मिली। 'समन्वय' छोड़ने के बाद यह 'मतवाला' के सम्पादकीय मण्डल में आगये। 'मतवाला' का सम्पर्क भी इनके लिये एक स्वर्णयोग सिद्ध हुआ। इनकी कविता के क्षेत्र यही दोनों पत्र थे।

इन की निराली कविता ने ही इन्हे 'निराला' नाम दिया है। स्वच्छंद छंदों के साथ भाव भी स्वच्छंद है। उनकी व्यञ्जना का प्रकार बिल्कुल अनूठी है, शब्दों और भावों दोनों में संगीत भरा है।

ये एकात्मवाद के समर्थक एक रहस्यवादी हैं। अपनी आत्मा में परमात्मा को देखते हैं। किन्तु भक्तिभाव इनके हृदय से फिर भी नहीं छूटा। ये परमात्मा को अलग रख कर ही उसकी पूजा करना श्रेयस्कर समझते हैं। इनके हृदय में उसके लिये प्रेम भरा है। उसके मिलन के लिये ये कितनी बार तड़प उठते हैं और ये अपनी इस व्यथा और वेदना को कभी काल्पनिक नहीं बतलाते। इनकी दृष्टि में यह संसार दुखमय है, इससे छूटने के लिये ईश्वर की शरण लिये बिना और कोई उपाय नहीं है। इसीलिये इन्होंने एक दूसरे लोक—परलोक की सृष्टि कर डाली है।

'अनामिका' इनकी स्फुट रचनाओं का संग्रह है। इसमें बहुत सी कविताएं ऐसी हैं, जो परमहंस श्री रामकृष्णदेव के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली तथा

स्वामी विवेकानंद की अपनी कविताओं का ठेठ हिन्दी में अनुवाद हैं। 'परिमल' और 'गीतिका' में प्रायः सभी रचनाएं इनकी अपनी हैं, उनमें किसी की भी छाया नहीं है। किन्तु ढंग वही बङ्गाली है। संगीत-माधुर्य, कल्पना-सौष्ठव, प्रकृति का सूक्ष्म-दर्शन चित्र-चित्रण एक से एक सुन्दर बन पड़े हैं।

'तुलसीदास' इनका खण्डकाव्य है, रचना का ढंग वही नया और चरित्र-चित्रण बिल्कुल विलक्षण। यह इनकी नवीनतम रचना है और सब रचनाओं में श्रेष्ठ। कवि तुलसीदास के प्रति इनकी कितनी गाढ़ श्रद्धा है, यह पढ़ने से ज्ञात हो सकता है।

'अप्सरा' 'अलका' 'निरुपमा' और 'प्रभावती' इनकी उपन्यास रचनाएँ हैं और 'उषा' नाम की एक नाटिका। 'लिल्ली' 'सखी' और 'सुकुल की बीबी' सुन्दर कहानियों के संग्रह हैं 'रवीन्द्र-कविता-कानन' में रवीन्द्र बाबू की सुन्दर कविताओं का परिचय दिया गया है। उसमें ये सुन्दर तर्ककुशल समालोचक के रूप में दृष्टि-गोचर होते हैं। 'कुल्ली भाट' इनकी व्यंग्य रचना है, जिसमें अपना जीवन परिचय भी दिया गया है। 'रामचरितमानस' की एक टीका भी की है जो अभी अप्रकाशित है। बच्चों और युवकों के काम के कई जीवन-चरित्र भी लिखे हैं। इनकी गद्यशैली भी भावना-प्रधान है। ये सुन्दर गायक भी हैं। इनका गाना बहुत मधुर होता है।

इनके सम्बन्ध में एक शिकायत की जाती है—इनकी भावव्यञ्जना का प्रकार बहुत टेढ़ा है। यह बात केवल पद्य में ही नहीं है बल्कि गद्य में भी है। यही इनको समझने के, इन तक पहुँचने के मार्ग में एक कठिन घाटी है। पर यह दोष सब जगह नहीं है। बहुत सी रचनाएं इस दोष से मुक्त भी हैं। कुछ अरबी फारसी शब्दों का बेजोड़ प्रयोग अवश्य खटकने वाला है। कुल मिला कर इनकी भाषा को कोमल और कान्त कहना चाहिए। अधिकाश रूप से इनके गद्य में संस्कृत के ललित शब्दों का प्रयोग मिलता है। इनके छंदों के सम्बन्ध में यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि वे मात्रा और वर्ण के बन्धनों से बिल्कुल मुक्त होते हुए भी संगीत की माधुरी से खाली नहीं हैं, उनमें भी नियम से काम लिया गया

। वाचन-कला (Art of Reading) को जानने वाला उनके माधुर्य का आनन्द ले सकता है।

तुम और मैं

तुम तुङ्ग हिमालय शृंग, और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्‌वास, और मैं कान्त-कामिनी-कविता॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति,
तुम सुरा-पान-घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।
तुम दिनकर के खर किरण-जाल, मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान॥
तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्चल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।
तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरञ्जिनी भाषा।
तुम नन्दन-वन-घन विटप, और मैं सुख-शीतल-तल शाखा॥
तुम प्राण और मैं काया,
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कण्ठहार, मै वेणी काल-नागिनी।
तुम कर पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह-रागिनी॥
तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं उन अधरों की वेणु।
तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार पार जाने की मैं अभिलाषा॥
तुम नभ हो मैं नीलिमा,

तुम शरत-काल के बाल इन्दु,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा ।
तुम गन्ध-कुसुम-कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय-समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम जंज़ीर ॥
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति।
तुम आशा के मधुमास और मैं पिक-कल-कूजन तान।
तुम मदन पंच-शर-हस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान ॥
तुम अम्बर, मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार, घन-पटल श्याम,
मैं तड़ित्तूलिका रचना ।
तुम रण-ताण्डव-उन्माद नृत्य, मैं मुखर-मधुर नूपर-ध्वनि।
तुम नाद-वेद ओंकार सार, मैं कवि-शृंगार-शिरोमणि ॥
तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुन्द-इन्दु-अरविन्द शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

मुक्ति

(गीत)

तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की, निकलो फिर,
गङ्गा-जल-धारा!

गृह-गृह की पार्वती!
पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
उर-उर की बनो आरती!—

भ्रान्तों की निश्चल ध्रुव-तारा।
तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा!

जलद के प्रति

जलद नहीं,—जीवनद, जिलाया, जब कि जगज्जीवन्मृत को।
तपन-ताप-सन्तप्त तृषातुर, तरुण-तमाल-तलाश्रित को।
पय-पीयूष-पूर्ण पानी से, भरा प्रीति का प्याला है।
नव वन, नव जन, नव तन, नव मन नव घन! न्याय निराला है।
भौंएँ तान दिवाकर ने जब, भू का भूषण जला दिया।
माँ की दशा देख कर तुमने, तब विदेश प्रस्थान किया,
वहाँ होशियारों ने तुमको, खूब पढ़ाया, बहकाया,
'द' जोड़ भेद बढ़ाया, तुम पर जाल फूट का फैलाया,
'जल' से "जलद" कहा, समझाया भेद तुझे ऊँचे बैठाल,
दाएँ-बाएँ लगे रहे, जिससे, तुम भूलो जाती ख्याल,
किन्तु तुम्हारे चारु चित्त पर खिंची सदा माँ की तस्वीर,
क्षीण हुआ मुख, छलक रहा उन नलिनी-दल-नयनों से नीर।
पवन-शत्रु ने तुम्हें उतरते देख उड़ाया पथ—अम्बर,
पर तुम कूद पड़े, पहनाया माँ को हरा वसन सुन्दर;
धन्य तुम्हारे भक्ति-भाव को दुःख सहे, डिगरी खोई,
कर्ध्वेश जलद! बन निमग्न जल, प्यारे प्रीति-बेलि बोई!

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक, चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओंठ जब जाते,
दाता——भाग्य-विधाता से क्या पाते ?——
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
ठहरो अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।

"वर दे, वीणावादिनि वर दे !"

वर दे, वीणावादिनी वर दे।
प्रिय स्वतन्त्र-रव अमृत-मन्त्र नव,
भारत में भर दे !

काट अन्ध-उर के बन्धन-स्तर बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष भेद-तम हर प्रकाश भर जगमग जग कर दे !
नवगति, नवलय, ताल-छन्द नव नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को नव पर, नव स्वर दे।

महत्त्वाकांक्षा

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर माँ,
मेरे श्रम-सञ्चित सब फल।

जीवन के रथ पर चढ़ कर, सदा मृत्यु-पथ पर बढ़ कर,
महाकाल के खरतर शर सह सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर;

जागे मेरे उर में तेरी मूर्ति अश्रुजल-धौत विमल,
दृग-जल से पा बल, बलि कर दूँ जननि, जन्म-श्रम-संचित फल।
बाधायें आयें तन पर, देखूँ तुझे, नयन-मन भर,
मुझे देख तू सजल दृगों से अपलक, उर के शतदल पर;
खेदयुक्त अपना तन दूँगा, मुक्त करूँगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि सकल श्रेय--श्रम-सञ्चित फल।

सुमित्रानन्दन पन्त

पन्त जी का जन्म प्रकृतिसुन्दर अलमोड़ा प्रदेश के कसौनी गाँव में हुआ था। जन्म संवत् १९५८ है। आपके पिता एक सम्पन्न, सुशिक्षित और सम्मानित व्यक्ति थे। शिक्षा आपने अंग्रेज़ी की इंटरमीडिएट तक प्राप्त की है। आपकी कविता का श्रीगणेश तब हुआ जब आप दसवीं कक्षा में पढ़ते थे। उसमें जो हम अभिनव सुन्दर और सलोना रूप देखते हैं, वह आपके कालेज अध्यापक अंग्रेजी साहित्य के विद्वान पं० शिवाधार पाण्डेय की प्रेरणा का फल है। कालेज छोड़ने के बाद से अंग्रेजी, बङ्गला और संस्कृत के ललित साहित्य का अध्ययन और कविता करना आपके जीवन का ध्येय हो गया है। सुन्दर रम्यस्थल पर्वत प्रदेश में जन्म लेने के कारण कविता की सृष्टि के लिये प्रकृति के सभी उपकरण आपको प्राप्त हुए हैं और उनको प्रयोग भी आपने यथेष्ट परिणाम में किया है। कविता का प्राण--कल्पना आपकी सहचरी है। कोमल और सुन्दर भावों के आप उपासक हैं। खरखरी और कर्कश खड़ी बोली इस योग्य नहीं थी कि आपके इन भावों को व्यक्त कर सकती, इस लिए आपने इस खड़ी बोली का कायाकल्प किया है; उसे बिल्कुल नया रूप दिया है--उसके कलेवर को बदल कर उसमें कोमल कान्त पदावली की प्रतिष्ठा की है। उसे छन्दों के भी पुराने बन्धनों से मुक्त कर उसके लिए बङ्गला के नये ढंग के छन्दों का निर्माण किया है। केवल इतना ही नहीं, उसके विषय और उसकी

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओठ जब जाते,
दाता--भाग्य-विधाता से क्या पाते?--
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
ठहरो अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।

"वर दे, वीणावादिनि वर दे!"

वर दे, वीणावादिनी वर दे!
प्रिय स्वतन्त्र-रव अमृत-मन्त्र नव,
भारत में भर दे!

काट अन्ध-उर के बन्धन-स्तर बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष भेद-तम हर प्रकाश भर जगमग जग कर दे!
नवगति, नवलय, ताल-छन्द नव नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को नव पर, नव स्वर दे!

महत्त्वाकांक्षा

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर माँ,
मेरे श्रम-सञ्चित सब फल।

जीवन के रथ पर चढ़ कर, सदा मृत्यु-पथ पर बढ़ कर,
महाकाल के खरतर शर सह सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर;

ंजस्य उत्पन्न किया गया है। कला की दृष्टि से यह इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। ोत्स्ना' एक कल्पना-प्रधान नाटिका है। इसमें छोटी सी एक काल्पनिक कहानी । 'ज्योत्स्ना' के बाद की इनकी रचनाएं हैं—'युगान्त' और 'युगवाणी', नका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

'पाँच कहानी' में पाँच सुन्दर कहानियाँ हैं। इसमें भी स्थान स्थान पर ा के दर्शन होते हैं।

'गुञ्जन' इनकी चौथी रचना है। इसमें आशा-निराशा और सुख दुख आदि सब द्विविध भावों से सहानुभूति प्रकट की गई है, उनका मानव-जीवन के सम्बन्ध जोड़ा गया है, उन्हें आदर्श जीवन का आधार बतलाया गया है। में इनकी कोरी कल्पना ही काम नहीं करती बल्कि पग पग पर अनुभूति के दर्शन होते हैं।

एक इनका उपन्यास 'हार' अभी छपा नहीं, वह नागरी प्रचारिणी सभा के ालय में सुरक्षित है। उमर खैयाम की रुबाइयों का भी इन्होंने उत्तम अनु- किया है।

पन्त जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार है, भाषा के बन्धन तोड़ने में इन्होंने जनोचित पूरी स्वतन्त्रता से काम लिया है। पुंल्लिंग शब्दों को स्त्रीलिंग और लिंग को पुँल्लिंगवाची बना दिया है। क्रिया पदों को प्रायः उठा ही दिया है। सम्बन्ध में इनके कई विरोधी भी पैदा हो गये हैं। परन्तु यह विरोध कुछ ा नहीं लगता; इस विषय में अपनी ओर से कुछ न कह कर हम मराठी के ानिधि कवि 'केशवसुत' के विचार रखते हैं।

"हम व्याकरण के नियमों पर कब ध्यान देने लगे। यदि हम उसका नियन्त्रण कार करें तो सत्काव्य का निर्माण कैसे हो सकेगा? जो लोग केवल व्याकरण की से काव्य में माधुर्य देखने का व्यसन रखते हैं उन्हें समझना चाहिए कि री काव्य-कला की सृष्टि उनके लिये नहीं होती।"

पन्त जी ने अपनी कविता को सुन्दर-सुन्दर अलङ्कार भी पहिनाए हैं। रूपक, ेक्षा और उपमा के शृंगार से उसका सौंदर्य खिल उठा है। समासान्त पदों

रूपवर्णना को भी बदल दिया है। एक प्रकृति कवि की प्रतिभा नये यु
निर्माण करती है, अपना नया पथ बनाती है। वह भेड़ियाधसान वृत्ति का
अनुसरण करना नहीं चाहती, किसी प्राचीन निर्दिष्ट स्थान पर
नहीं लेती।

पन्त जी का अध्ययन बहुत विस्तृत है। इन्होंने पूर्व और पश्चिम के स
को अच्छी तरह से पढ़ा है, बङ्गाल की कोकिल-वाणी का रसास्वादन कि
भारतीय दर्शन शास्त्र को समझा है। इसी लिये ये बहुत ऊँचे उठे हैं।
कल्पना उदात्त और सुन्दर है। इनके भावों में अनूठापन और आकर्ष
इन्होंने प्रकृति और मानवता के बीच में मधुर सम्बन्ध की स्थापना की
इनकी दृष्टि में प्रकृति देवी की प्रत्येक हलचल—क्रिया-विक्रिया, शान्ति-उत्
सुख-दुख, आरोह-अवरोह जो कुछ भी है, उसके वरपुत्र मानव के लिये
जीवन-भोज है, सुन्दर झूलना है। 'युगान्त' और 'युगवाणी' इनकी नवी
रचनाएं हैं, उनमें इन्होंने कार्ल मार्क्स के साम्यवाद और विश्वप्रेम की भाव
फूल चढ़ाये हैं। ये सुख और दुख का बराबर से बटवारा करना चाहते हैं,
समता लाना इनका ध्येय है।

'वीणा' पन्त जी की पहली स्फुट रचनाओं का संग्रह है। इन पहली
रचनाओं को पढने से जान पड़ता है, कवि स्वर्गलोक से उतरे हैं और हमें
संदेश सुना रहे हैं। इन रचनाओं में मधुर और सुन्दर भावों का गान किया
है। उनमें 'कल्पना' को कहीं स्थान नहीं दिया गया। स्वर्गीयसंदेश में वास्त
नहीं होगी तो कोई विश्वास ही क्या करेगा!

'ग्रन्थि' करुणारसप्रधान अतुकान्त श्रेणी का खण्डकाव्य है। इसमें
तरह से चमके हैं। इसके दुखान्त और करुणा के गीत मानवलोक को स्व
बनाते हैं। यह इनकी अनूठी रचना है।

'पल्लव' में भी स्फुट रचनाएं संगृहीत हैं। इसमें इनके भाव गम्भीर हैं
कल्पना बहुत ऊँची। प्रकृति के अभिराम और नयन-सुन्दर चित्र उतारने में
लोकोत्तर सफलता प्राप्त हुई है। इसमें पश्चिमी और भारतीय दर्शनों के

अपने सजल-स्वर्ण से पावन रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन, ढल रे ढल आतुर मन।
तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन, गन्ध-हीन तू गन्ध युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन!
मूर्तिवान बन, निर्धन! गल रे गल निष्ठुर-मन!

ीवन का श्रम-ताप हरो"

जीवन का श्रम-ताप हरो, हे!
सुख-सुखमा के मधुर-स्वर्ण से सूने जग-गृह-द्वार भरो, हे!
लौटे गृह सब श्रात चराचर, नीरव तरु-अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर-पल्लव से विश्व-नीड़ प्रच्छाय करो, हे! जी॰
उदित शुक्र, अब अस्त भानु-बल, स्तब्ध पवन, तन-नयन पद्म-दल,
तंद्रिल पलकों में निशि के शशि! सुखद स्वप्न बन कर विचरो, हे! जी॰

वन का अधिकारी

जो है समर्थ, जो शक्तिमान, जीने का है अधिकार उसे।
उसकी लाठी का बैल विश्व, जता सभ्य-संसार उसे।
दुर्बल का घातक दैव स्वयं, समझो बस भू का भार उसे।
'जैसे को तैसा'—नियम यही, होना ही है संहार उसे।
है दास परिस्थितियों का नर, रहना उनके अनुसार उसे।
जीता है योग्य सदा जग में, दुर्बल ही है आहार उसे!
तृण, झस, पशु से नर-तन देता, जीवन-विकास का तार उसे।
वह शासन क्यों न करे भू पर, चुनना है सब का सार उसे। जो॰

ना

कहो कौन हो दमयन्ती-सी तुम तरु के नीचे सोई?
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि! नल-सा निष्ठुर कोई!
पीले-पत्रों की शय्या पर तुम विरक्ति-सी, मूर्छा-सी,
विजन-विपिन में कौन पड़ी हो विरह-मलिन, दुख-विधुरा-सी?

का प्रयोग उन्हें बहुत प्रिय है। कहीं कहीं इस शैली ने भावों को दुरूह भी बना दिया है।

कुसुम-जीवन

कुसुमों के जीवन का पल हँसता ही जग में देखा,
इन म्लान मलिन अधरों पर स्थिर न रही स्मिति की रेखा!
बन की सूनी डाली पर सीखा है कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना।
काँटों से कुटिल भरी हो यह जटिल जगत की डाली,
इसमें ही तो जीवन के पल्लव की फूटी लाली।
अपनी डाली के काँटे बेधते नहीं अपना तन,
सोने-सा उज्ज्वल बनने तपता नित प्राणों का धन।
दुख-दावा से नव-अंकुर पाता जग-जीवन का बन,
करुणार्द्र विश्व की गर्जन बरसाती नव-जीवन-कण!

सुख दुख

सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय-जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से चलता उर का मृदु स्पन्दन।
हँसने ही में तो है सुख यदि हँसने को होवे मन,
भाते हैं दुख में आते मोती-से आँसू के कण!
महिमा के विशद-जलधि में हैं छोटे-छोटे-से कण,
अणु से विकसित जग-जीवन, लघु अणु का गुरुतम साधन!
जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिर-गूढ़ सरलपन;
है सहज मुक्ति का मधु-क्षण, पर कठिन मुक्ति का बन्धन!

"तप रे मधुर-मधुर मन!"

तप रे मधुर-मधुर मन।
विश्व-वेदना में तप प्रति-पल, जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल, तप रे विधुर-विधुर मन।

मानव उर तुम मानव उर में लय कर न सके, गा मर्म गान।
हे शिल्पकार वर, कठिन धातु, जड़ प्रस्तर में भर अमर प्राण
दे सके नहीं मानव जग को तुम मानवता का प्रकृत मान।
कवि, नव युग की चुन भाव राशि, नव छंद, आभरण, रस विधान,
तुम बन न सकोगे जन मन के जाग्रत भावों के गीत यान?

ाचार्य द्विवेदी जी के प्रति

भारतेंदु कर गए भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका वहुविधि स्वर-संधान।
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार,
अखिल देश को वाणी की दे दिया एक आकार!
पंखहीन थी अहा कल्पना, मूक कंठगत गान!
शब्द शून्य थे भाव; रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण!
सुख दुख की प्रिय कथा स्वप्न! वंदी थे हृदयोद्गार,
एक देश था सही, एक था क्या वाणी व्यापार?
वाग्मि! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
रूप रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्रकंकाल!
शत कंठों से फूट आप के शतमुख गौरव गान,
शत शत युग स्तंभों पर तानें स्वर्णिम कीर्ति वितान!
चिर-स्मारक सा उठ युग युग में भारत का साहित्य,
आर्य, आपके यशःकाय को करे सुरक्षित नित्य।

खोलो

रुद्ध हृदय के द्वार, खोलो फिर इस वार!
मुक्त निखिल मानवता हो जीवन सौन्दर्य प्रसार,—
खोलो फिर इस वार!
युग युग के जड़ अंधकार में वंदी जन-संसार,
रूढ़ि-पाश में बँधी मनुजता करती पशु-चीत्कार!—
खोलो फिर इस बार!

तुम पथ-श्रान्ता द्रुपद-सुता-सी कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात,
तुहिन-आश्रुओं से निज गिनती चौदह दुखद-वर्ष दिन रात !
पछतावे की परछाँई-सी तुम भू पर छाई हो कौन ?
दुर्बलता-सी, अँगराई-सी, अपराधी-सी भय से मौन !
किस रहस्यमय-अभिनय की तुम, सजनि ! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य-पट के भीतर है किस विचित्रता का संसार ?
निर्जनता के मानस-पट पर—बार बार भर ठण्डी साँस—
क्या तुम छिप कर क्रूर-काल का लिखती हो अकरुण इतिहास ?
सखि ! भिखारणी-सी-तुम पथ पर, फैला कर अपना अञ्चल,
सूखे-पातों ही को पा क्या प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?
कभी लोभ-सी लम्बी होकर, कभी तृप्ति-सी हो फिर पीन,
क्या संसृति की अचिर-भूति तुम सजनि ! नापती हो स्थिति-हीन ?
दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा, बढ़ कर नित तरुवर के सङ्ग,
मुरझे-पत्रों की साड़ी से ढँक कर अपने कोमल अङ्ग,
सदुपेश-सुमनों से तरु के गूँथ हृदय का सुरभित-हार,
पर-सेवा-रत रहती हो तुम, हरती नित पथ-श्रान्ति अपार।
चूर्ण-शिथिलता-सी अँगड़ा कर होने दो अपने में लीन,
पर पीड़ा से पीड़ित होना मुझे सिखा दो, कर मद हीन।

कवि !

हे राजनीतिविद्, अर्थविज्ञ ! रच शत शत वाद, विवाद, यंत्र,
परतंत्र किया तुमने मानव, तुम बना न सके उसे स्वतन्त्र।
हे दर्शनज्ञ, शत तर्कों से, सच्छास्त्रों से, पा गहन ज्ञान,
तुम भी न दे सके मानव को उसकी मानवता का प्रमाण।
हे चित्रकार, ले रंग तूलि, भर रूप रेख, छायाभ अंग,
चित्रित न कर सके मानव में तुम मानवता के रूप रंग।
गायक, पा कोमल, मधुर कंठ, रच वाद्य, ताल, आलाप, तान

मानव उर तुम मानव उर में लय कर न सके, गा मर्म गान।
हे शिल्पकार वर, कठिन धातु, जड़ प्रस्तर में भर अमर प्राण
दे सके नहीं मानव जग को तुम मानवता का प्रकृत मान।
कवि, नव युग की चुन भाव राशि, नव छंद, आभरण, रस विधान,
तुम बन न सकोगे जन मन के जाग्रत भावों के गीत यान?

आचार्य द्विवेदी जी के प्रति

भारतेंदु कर गए भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-संधान।
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार,
अखिल देश को वाणी की दे दिया एक आकार!
पंखहीन थी अहा कल्पना, मूक कंठगत गान!
शब्द शून्य थे भाव; रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण!
सुख दुख की प्रिय कथा स्वप्न! वंदी थे हृदयोद्गार,
एक देश था सही, एक था क्या वाणी व्यापार?
वाग्मि! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
रूप रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्रकंकाल!
शत कंठों से फूट आप के शतमुख गौरव गान,
शत शत युग स्तंभों पर तानें स्वर्णिम कीर्ति वितान!
चिर-स्मारक सा उठ युग युग में भारत का साहित्य,
आर्य, आपके यशःकाय को करे सुरक्षित नित्य।

खोलो

रुद्ध हृदय के द्वार, खोलो फिर इस बार!
मुक्त निखिल मानवता हो जीवन सौन्दर्य प्रसार,—
खोलो फिर इस बार!

युग युग के जड़ अंधकार में बंदी जन-संसार,
रूढ़ि-पाश में बँधी मनुजता करती पशु-चीत्कार!—
खोलो फिर इस बार!

निर्मम कर आघात मर्म में, निष्ठुर तड़ित प्रहार—
चूर्ण करो गत संस्कार को, लेश्रो प्राण उबार !—
खोलो फिर इस बार !
गूँज उठे जन-जन में जीवन उर में प्रणय पुकार,
पुनः पल्लवित हो मानव-जग, हो वसंत पतझार !—
खोलो फिर इस बार !

सियारामशरण गुप्त

आप कविश्रेष्ठ बाबू मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। आपका जन्म संवत् १९५२ में हुआ था। आप बङ्गला, गुजराती, मराठी, संस्कृत में बहुत अच्छी गति रखते हैं। कविता के क्षेत्र में आपको खूब सफलता प्राप्त हुई है। आप कथात्मक कविताएं लिखते हैं, किन्तु कहीं-कहीं आजकल का सा रंग भी आगया है। मुक्त छंद, नये भाव और नई शैली। गम्भीर चिन्तन और सरलता आपकी कविता के दो विशेष गुण हैं। आपके खण्डकाव्यों में करुण रस का बहुत सुन्दर परिपाक हुआ है। उन्हें पढ़ने से हृदय पर गहरी छाप पड़ती है। कवित के अतिरिक्त कहानी, नाटक और उपन्यास भी आपने लिखे हैं। 'कोटर-कुटीर' और 'मानुपी' आपकी कहानियों के संग्रह है, 'गोद' एक सुन्दर उपन्यास है, 'पुण्य-पर्व' अच्छा नाटक है और 'निष्क्रिय प्रतिरोध' और "कृष्णा कुमारी" अतुकान्त गीतिनाट्य है। 'आर्द्रा' 'दूर्वादल' और 'विषाद' आपकी सामयिक विषयों पर लिखी हुई छोटी-छोटी कविताओं के संग्रह हैं। और 'मौर्यविजय' 'अनाथ' और 'पाथेय' आख्यानक खण्डकाव्य। 'पाथेय' आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। 'उन्मुक्त' आपकी नवीनतम काव्य-रचना है।

चोर

कुछ हो आज बनूँगा चोर !
अभी अँधेरा है, प्राची में
नहीं अरुण-आभा की कोर;
हूँगा, हाँ हाँ हूँगा चोर !
पुर-वासी हैं निज निज घर में,
तरु-वासी हैं निज निज घर में,
नीरवता है पथ-प्रान्तर में;
सुप्ति छा रही चारों ओर;
कुछ हो, आज बनूँगा चोर !
सम्मुख ही तो है धन मेरा,
किसलय-मृदु ऊपर का घेरा;
लोभ हृदय में है बहुतेरा,
कर लूँ मैं निज दिशि का भोर।
कुछ हो, आज बनूँ मैं चोर !
जितना बने सभी मैं ढोलूँ;
हलका हूँ कुछ भारी हो लूँ;
द्वार पर्ण-मय है, अब खोलूँ;
उठी अहा ! आमोद हिलोर !
धन्य हुआ बन कर मैं चोर !
लुट कर भी खिल उठी, भली यह;
अच्छी धनवन्ती निकली यह !
कौन अरे—है कुसुमकली वह
और पवन मैं हूँ मुँहज़ोर;
नही नहीं, मैं तो हूँ चोर !
चोर, अहा सचमुच ही चोर !

निर्मम कर आघात मर्म में, नि
चूर्ण करो गत संस्कार को, ले

गूँज उठे जन-जन में जीवन उर
पुनः पल्लवित हो मानव-जग, हो

सियारामशरण

आप कविश्रेष्ठ बाबू मैथिलीशरण गुप्त के छ
संवत् १९५२ में हुआ था। आप बङ्गला, गुजरात
अच्छी गति रखते हैं। कविता के क्षेत्र में आपको
आप कथात्मक कविताएं लिखते हैं, किन्तु कहीं-कहीं
आगया है। मुक्त छंद, नये भाव और नई शैली। गम्भ
आपकी कविता के दो विशेष गुण हैं। आपके खण्डकाव्य
सुन्दर परिपाक हुआ है। उन्हें पढ़ने से हृदय पर गहर
के अतिरिक्त कहानी, नाटक और उपन्यास भी आपने
और 'मानुषी' आपकी कहानियों के संग्रह है, 'गोद' एक सुन
पर्षा' अच्छा नाटक है और 'निष्क्रिय प्रतिरोध' और "कृष्
गीतिनाट्य है। 'आर्द्रा' 'दूर्वादल' और 'विषाद' आपकी र
लिखी हुई छोटी-छोटी कविताओं के संग्रह हैं। और 'मौर्यवि
'पाथेय' आख्यानक खण्डकाव्य। 'पाथेय' आपकी सर्वश्रेष्ठ रच
'उन्मुक्त' आपकी नवीनतम काव्य-रचना है।

शूल अहा! यह चमक चमक कर,
पड़ता है मेरे पथ-तम पर।
इतना भी कम क्या, यदि डग भर

बढ़ जाता हूँ मैं भय-भूल?
सखे, रोक मत मुझे आज तू, समय आज मेरे अनुकूल।
"रुक जा, रुक जा बन्धु आज तू, ऋतु है यात्रा के प्रतिकूल;
जल ही जल सब ओर आज है, डूब गये हैं सब पथ-कूल।"
मेरे मग की खन्दक-खाई, वर्षा समतल पर है लाई।
अहा! सन्तरण की बन आई, कण्टक दे न सकेंगे शूल!
सखे, रोक मत मुझे आज तू, सब कुछ है मेरे अनुकूल।

खिलौना

'मैं तो वही खिलौना लूँगा' मचल गया दीना का लाल,—
'खेल रहा था जिसको लेकर राजकुमार उछाल उछाल।'
व्यथित हो उठी माँ बेचारी—था सुवर्ण-निर्मित वह तो!
खेल इसी से लाल,—नहीं है राजा के घर भी यह तो!'
'राजा के घर! नहीं नहीं माँ तू मुझको बहकाती है;
इस मिट्टी से खेलेगा क्या राजपुत्र तू ही कह तो।'
फेंक दिया मिट्टी में उसने मिट्टी का गुड्डा तत्काल;
'मैं तो वही खिलौना लूँगा'—मचल गया दीना का लाल!
'मैं तो वही खिलौना लूँगा' मचल गया शिशु राजकुमार,—
'वह बालक पुचकार रहा था पथ में जिसको वारंवार।'
'वह तो मिट्टी का ही होगा, खेलो तुम तो सोने से।'
दौड़ पड़े सब दास दासियाँ राजपुत्र के रोने से।
'मिट्टी का हो या सोने का, इनमें वैसा एक नहीं।
खेल रहा था उछल उछल कर वह तो उसी खिलौने से।'

यात्री

(१)

कैसे पैर बढ़ाऊँ मैं?
इस घन-गहन-विजन के भीतर मार्ग कहाँ जो जाऊँ मैं!
कुटिल कँटीले झंखाड़ों में उत्तरीय उड़ कर मेरा
उलझ उलझ जाता है, इसको कहाँ कहाँ सुलझाऊँ मैं?
कहीं धँसी है धरा गर्त्त में, कहीं चढ़ी है टीलों पर;
मुक्त विहग-सा उड़ जाऊँ जो पंख कहाँ से लाऊँ मैं!

(२)

पंख कहाँ से लाऊँ मैं! अरे, पैर ही क्या कुछ कम हैं
क्यों न अभी बढ़ जाऊँ मैं? उत्तरीय का क्या, यह तनु भी
क्षतच्छिन्न हो जाने दूं; इन शत शत काँटों में बिंधकर
लक्ष-लाभ निज पाऊँ मैं। गह्वर-टीले इधर-उधर हैं,
मुझको पथ देने को ही; अपने इन पद-चिह्नों पर ही
नूतन मार्ग बनाऊँ मैं। कुछ हो, पैर बढ़ाऊँ मैं।

दुर्वार

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू; आज प्रकृति-गति है प्रतिकूल;
भर भर कर हुंकार कोपना झंझा उड़ा रही है धूल।"
अहा धूल ने भी गतिधारी
शुष्क पत्र भी हैं नभचारी;
तज विलास-मन्थरता सारी
हुआ मृदुल मारुत वातूल।
सखे, रोक मत मुझे आज तू, प्रकृति आज मेरे अनुकूल।
"रुक जा रुक जा बन्धु, आज तू; आज समय गति है प्रतिकूल,
रुद्र व्योम घन-जटा खोल निज लिए हुए है विद्युत्-शूल।"

सबल बनूँ मैं घात और प्रतिघात सहन कर,
ऊपर कुछ चढ़ सकूँ और दुख-भार वहन कर।
इस कठिन परीक्षा-कार्य में हो जाऊं उत्तीर्ण जब
कर देना मानस-सद्म में शान्ति-सुगन्धि विकीर्ण तब

सुजीवन

हे जीवन-स्वामी तुम हमको जल-सा उज्ज्वल जीवन दो।
हमें सदा जल के समान ही स्वच्छ और निर्मल मन दो।
रहें सदा हम क्यों न अतल में, किन्तु दूसरों के हित पल में
आवें अचल फोड़ कर थल में; ऐसा शक्ति-पूर्ण तन दो।
स्थान न क्यों नीचे ही पावें, पर तप में ऊपर चढ़ जावें,
गिर कर भी क्षिति को सरसावे, ऐसा सत्साहस धन दो।

खादी की चादर

खादी की वह मोटी चादर नहीं चित्त को भाती थी,
अनमिल जन की अपनाहट-सी रुचि से मेल न खाती थी।
वह बेडौल बनावट उसकी स्मृति में फिर फिर आती थी;
छिलका-सा था अड़ा दाँत में जीभ वहीं पर जाती थी।
बड़ी देर हो गई लोटते, फिर भी नींद नहीं आई;
सहसा मुझे एक छाया-सी सम्मुख ही दी दिखलाई।
अर्द्ध-निशा थी, विजन कक्ष था, पूरा सन्नाटा छाया;
आँखें मलीं, उसे फिर देखा, ऐं! यह है कैसी माया।
अट्टहास-सा हुआ एकदम, काँप उठी रजनी की शान्ति,
सुना—"अरे डरते हो? हूँ मैं, नहीं हुई है तुमको भ्रान्ति।
बदल रहे करवटें देर से, बीत चुकी है आधी रात;
जी में सोचा, घड़ी दो घड़ी बैठ करूं तुमसे कुछ बात।"
मैंने उत्तर दिया—"कहो कुछ, कटे समय यह किसी प्रकार"
"तो फिर कहूँ आप-बीती ही हो तुम सुनने को तैयार?

राजहठी ने फेंक दिये सब अपने रजत-हेम-उपहार;
'लूँगा वही, वही लूँगा मैं ! मचल गया वह राजकुमार।

घट

कुटिल कंकणों की कर्कश रज मल-मल कर सारे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको बाँधा है इस बन्धन में ?
फाँसी-सी है पड़ी गले मे नीचे गिरता जाता हूँ;
बार-बार इस अन्ध-कूप में इधर-उधर टकराता हूं;
ऊपर-नीचे तम ही तम है बन्धन है अवलम्ब यहाँ !
यह भी नहीं समझ में आता गिर कर मैं जा रहा कहाँ !!
कांप रहा हूँ भय के मारे हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण;
ऐसे दुखमय जीवन से हा ! किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण ?
सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या नहीं दीखता एक उपाय,
यह क्या?—यह तो अगम नीर है, डूबा ! अब डूबा, मैं हाय !!
भगवन् ! हाय बचालो अब तो, तुम्हें पुकारूँ मैं जब तक,
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में आर्तनाद करके तब तक।
अरे, कहाँ वह गई रिक्तता, भय का भी अब पता नहीं;
गौरववान हुआ हूँ सहसा, बना रहूँ तो क्यों न यहीं ?
पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा उज्ज्वलतर जीवन लेकर;
तुम से उऋण नहीं हो सकता यह नवजीवन भी देकर।

परीक्षा

मैं हूँ एक, अनेक शत्रु सम्मुख हैं मेरे,
क्रोध, लोभ, मोहादि सदा रहते हैं घेरे।
परमपिता, इस भाँति कहाँ मुझको ला पटका,
जहाँ प्रतिक्षण बना पराभव का है खटका।
अथवा निर्बल समझ अनुग्रह है दिखलाया,
करने को बल-वृद्ध अखाड़े में पहुँचाया।

किसी उच्च देवालय पर से गूंज रही थी शहनाई;
आसपास सुरसरि-धारा की कल कल कल ध्वनि थी छाई।
यहां अकेली हूं बस मैं ही—हुआ उसे अनुभव प्रत्यक्ष;
उसके लिए विजन वन ही था बहु-जन-संख्यक नगर समक्ष।
चुरा चुका था जो अपना मुंह, नैश-तिमिर का परदा डाल,
हूक उठी उसके भीतर से, वेग न वह, सह सकी संभाल।
पटक दिया अपना सिर नीचे, हृदय खोल कर वह रोई;
"मुझ अभागिनी का सहाय क्या कहीं नहीं होगा कोई?
वैरी हुआ विश्व भर मेरा, हाय! कहा अब जाऊं मैं?
मुझ तक ही मेरी सीमा है, हाथ कहा फैलाऊं मैं?
छूटा गांव, गेह भी छूटा, माता-पिता सभी छूटे;
छूटे नहीं प्राण ही मेरे, जग के सब नाते टूटे।
आ जा, अरी. मौत! आ जा तू, ऐसी चाह किसे तेरी?
आकर अरी बचा जा मुझको सौत हुई तू क्यों मेरी?
किस अभाग्य से तू ओ बेटी, हुई हाय! मेरी बेटी!
नहीं नहीं भी ठौर रहा हा! यहां रेत पर तू लेटी!
रट-सी रही लगाये दिन भर कह कह 'चल मां, घर को चल'
नहीं जानती है अभागिनी, हुआ यहीं घर है तरु-तल।
विश्वनाथ, हा विश्वनाथ तुम हो यथार्थ ही पत्थर के?
सम्मुख ही तलफाओगे क्या मुझे निस्सहाया करके?
क्या पिट गया दिवाला, जिस से तूने भी मुंह है फेरा;
अरी अन्नपूर्णा माता, क्या रहा नाम भर ही तेरा?"
बच्ची एकाएक रो उठी इसी समय सोते सोते;
लगा उसे छाती से उसने चूमा स्थिर होते होते।
बिना कहे कह दिया कि—'रो मत, हूँ मैं तो पृथ्वीतल पर;
मातृ-मूर्ति की आभा झलकी उसके मृदु मुख-मण्डल पर।

चम्पा का सौभाग्य-सूर्य जब अस्त हो गया, असमय ही,
उसके लिए विशाल विश्व यह बस हो गया तमोमय ही।
हुआ सह-स्मरण ही उसका, वह बची रही कहने भर को;
जीवित-रही कठोर चिता में दहते ही रहने भर को।
सब के लिए अशुभ-सा दुस्सह विधि का शाप हुई घर में,
मरणेच्छा ही हुई शुभेच्छा उसके लिये भुवन भर में।
रात रात भर रोती रहती, तनिक विराम न लेती थी;
तमसा के उपरान्त उषा भी उसे प्रकाश न देती थी।
घर के लोग कोसते जब तब उसे राक्षसी कह कह कर;
उसकी वह छोटी बच्ची भी खलती सबको रह रह कर।
उसकी मां से उसे तनिक भी हीन नहीं वे बतलाते;
अपना बाप खा गई, तब तो उसे और मोटी पाते!
तीर्थाटन के लिए ले गये घर के लोग उसे उस बार;
दया दिखाई,—उस दुखिया का कुछ तो हो परलोक सुधार!
पर काशी में बड़ी भीड़ थी, साथ अचानक छूट गया;
अबला की आशा का अन्तिम सूक्ष्म-तन्तु भी टूट गया!
दिन भर बच्ची लिये गोद में घूमा की वह जहाँ तहाँ;
किन्तु हाय! घर के लोगों का पता नहीं पा सकी वहां।
पैसे थे कुछ पास, उन्हीं से बच्ची को कुछ खिला दिया;
उतर घाट से गंगाजी का पावन जल ही आप पिया।
सन्ध्या हुई, उदय तारों का हुआ नभस्थल में क्रम से,
गंगा-तीर, नगर, प्रान्तर सब हुए समाच्छादित तम से।
तट पर एक वृक्ष के नीचे बैठ गई विधि की मारी;
थी सो गई गोद में बच्ची, रोती रोती बेचारी।
दूर अदृश्य किसी नौका में नाच हो रहा था लय-सह;
नूपुर-नाद, ठनक ठेके की, 'वाह, वाह!' का रव रह रह।

रात हुई, बढ़ गई अत्यधिक बच्ची के ज्वर की ज्वाला;
उस ज्वाला में न था ज्योति-कण, बस, तम ही तम था काला।
चम्पा मुँह के पास ले गई दूध कटोरी में भर के;
'मारो मत!' कह चौंक पड़ी वह दूध गिराकर ठोकर से।
तन का ताप जलाकर तन को होने लगा शान्त प्रतिपल,
आवश्यकता जान पड़ी जब तब वह हाय! हुआ शीतल।
रात्रि शेष कुछ थी, बच्ची ने छोड़ी जब निज अन्तिम सांस,
गिरि धड़ाम भूमि पर चम्पा, चुभी हृदय में गहरी गांस।
पण्डितजी को खेद हुआ—हा! व्यर्थ कलङ्क लिया सिर पर,
करने लगे आर्द्र उनको भी अश्रु दृगों से फिर-फिर कर।
दे देकर आश्वास उन्होंने करना चाहा शान्त उसे;
करने लगा शोक तर तर ही पर नितान्त उद्भ्रान्त उसे।
चिल्ला उठी—'अरी ओ बेटी, मुझको छोड़ चली तू भी!
पहले ही सब तोड़ चुके थे नाता तोड़ चली तू भी।
क्यों न जनमते ही री! मैंने तेरा गला घोंट डाला;
तुझ जैसे भी महाशत्रु को दूध पिला कर क्यों पाला?'
शव को लोग उठाने आये तब वह चिपट गई उससे;
नहीं छोड़ना चाहा उसको, कस कर चिपट गई उससे,
छीन ले गये मृत को जब वे, दौड़ी वह गंगा की ओर,
बड़ी कठिनता से सँभाल कर पकड़ा उसे लगा के ज़ोर।
'अच्छा' मुझे मार ही डालो, नहीं यहाँ से जाऊंगी,
अरे! छोड़ दो, पाऊंगी तो, यहीं शान्ति चिर पाऊंगी।
बड़ा खेल होगा आहा हा! जब तुम मुझे भगाओगे,
नहीं टलूँगी मैं तिल भर भी, सब मिल कर पछताओगे।'
समय जा रहा था वैसा ही, नहीं रुक सका वह पल भर,
चढ़ता गया प्रभाकर नभ में अपनी वही चाल चल कर।

बहा पवन गंगा-प्रवाह पर गहरी एक साँस भरके,
तट के उस पीपल के पत्ते सिहर उठे मर्मर करके।
ऊपर उलझे हुए तिमिर में झिलमिल होते थे तारे,
ज्यों के त्यों निस्तब्ध खड़े थे उच्च भवन-आलय सारे ?
तम की घनी गढता अब तक वैसी ही थी, घटी न थी,
चहके अभी न थे पक्षी भी, प्राची में पौ फटी न थी।

कौशिक वस्त्र डाल कन्धे पर, कहते हुए शम्भु हर हर।'
इसी समय प्रतिदिन आते थे पण्डित जी गंगा-तट पर।
चलते-चलते खड़े हो गये, पाकर वृक्ष-तले आहट;
'है यह कौन यहां ?'—बोले वे झुक कर कुछ आगे को झट।
सुन कर आत्म-कथा चम्पा की आंखें उनकी हुईं स-जल;
उमड़ उठी बूंदों में गङ्गा देकर शुचि स्नान का फल !
बोले—'बचा लिया दुष्टों से गङ्गा मा ने करुणा कर;
अब इस तरह न घबरा बेटी, चल कर रह तू मेरे घर।
वस्त्र पास में न था और, पर चम्पा ने भी स्नान किया,
क्या था वहा, नेत्र-जल की ही दो बूंदों का दान दिया।
चलते समय अश्रु-धारा से भींगा वस्त्र भिगोकर फिर,
वह अभागिनी आर्द्रा अबला; बोली यों करके नत शिर—
"गङ्गा मैया" इसी लिए क्या मुझे दूर से था खींचा ?
क्यों उखाड़ देने ही को हा ! आशा लतिका को सींचा ?
तू समर्थ, जो करे ठीक है रोक सकेगा कौन तुझे,
यही घाट पर हाय ! विप्र का दिलवाना था दान तुझे !"
धर्म-निरत पण्डितजी के घर चम्पाने आश्रय पाया,
पर दुरन्त दुर्भाग्य वहाँ भी उसके साथ-साथ आया।

बच्ची का तन तप्त देख कर अन्तरतर उसका दहला,
घबरा उठी, अधीर हो उठी, यदपि प्रहार न था पहला।

कोने में पूनी रखी थीं टिके हुए चरख के पास;
उठा उन्हें हलके हाथों से ठोका, लेकर गहरी श्वास।
थोड़ी देर बाद ही, क्रम से चरखा चलने लगा वहा,
पण्डितजी तो जगते ही थे, उठ बैठे--क्या हुआ कहा!
देखा--आगे चरखा रख कर चम्पा कात रही है सूत;
धो-सा दिया करुण-करुणा ने आनन उसका पावन-पूत।
क्या सो गये? नहीं सुनते हो? उसी सूत से ही बन कर,
चादर में, तैयार हुई हूं, घूम-घाम कितने ही घर।
हा, तो शेष-कथा भी कह दूं, मुझे और जो कुछ है ज्ञात,
सूत कातती रही वहा वह जम कर बैठ गई दिन रात।
देख उसे कहते सब कोई--मति है बिगड़ गई इसकी,
चाहा गया, किन्तु, आसन से नहीं ज़रा भी वह खिसकी।
भोजन वहीं पड़ा रह जाता, नहीं ध्यान भी वह देती,
उठती जब तो बस थोड़ा-सा गंगा-जल ही पी लेती।
ओ तपस्विनी, क्या विचार कर लिया घोर ऐसा व्रत है?
नहीं लौट कर आ सकती वह जो मृत हुआ, हुआ मृत है।
उस दिन सूत इकट्ठा करके रक्खा उसने अपने पास,
फैल गया अतिरिक्त दीप्तिमय आँखों में उत्कट उल्लास।
वह सब पटक दिया ले जाकर पण्डितजी के आगे झट;
'दो आने पैसे दो।' कह कर अट्टहास कर उठी विकट।
देना अधिक उन्होंने चाहा—'अधिक मूल्य का होगा यह'
ज्यादा पैसे वहीं फेंक कर झट-से दौड़ गई पर वह।
तनिक दूर ही चौराहे पर दूध दही की थी दूकान,
रुकी वहीं उसके आगे वह झंझा की-सी द्रुत गतिमान।
'दूध हमें दो, दो आने का' कह कर फेंक दिए पैसे,
उत्तर मिला--'तीन आने में भरू सकोरे दो ऐसे।

थी वैसी ही भीड़ पथों पर, था वैसा ही यातायात,
कार-वार चल रहे सभी थे, मानों हुई न हो कुछ बात।
पण्डितजी ने कहा बहुत कुछ उसने जल भी नहीं छुआ,
आश्वासन, उपदेश, सान्त्वना, डाँट-डपट सब व्यर्थ हुआ।
संध्या के सुवर्ण मेघों में जाकर अस्त हुआ दिनकर,
सब अशान्त कोलाहल जग का होने लगा शान्त तर तर।
भग्न-हृदय की करुण हूक ही उस सन्नाटे में भर के,
फैल गई पृथ्वी से नभ तक और सभी का लय करके।
'बेटी, अच्छा किया, गई तू, तू तो कष्टों से छूटी।
अच्छा हुआ, काल ने मेरी बची-खुची निधि भी लूटी।
बस अब ठीक हुआ, डर मुझको किसी चोट का नहीं रहा,
दीपक बुझ ही गया, काम अब किसी ओट का नहीं रहा।
किन्तु अरी निष्ठुरे, तनिक तो दूध यहाँ पीती जाती;
तू भूखी ही गई हाय रे! जलती है मेरी छाती।
अथवा यहाँ, क्षेत्र में, द्विज का दान ग्रहण करती कैसे?
औरों का भिक्षा-धन लेकर शान्ति-सहित मरती कैसे?
कौन लोक में पहुँच चुकी तू, पता नहीं हा! गई कहाँ;
तो फिर क्यों फिर-फिर आ आकर भूल दृगों में रही यहाँ?
मुरझा गया भूख से मुख है; कौन खिलावेगा तुझको?
बता, वहां है कौन हाय! जो दूध पिलावेगा तुझको।
अरे कहीं कोई है ऐसा—हो उसका सौभाग्य अचल;
तुझ तक पहुंचा सके आज जो एक घूंट पय ही केवल।
बिना मजूरी टहल करूंगी जीवन भर उसके घर मैं,
कर दूंगी उस एक घूंट पर सब कुछ आज निछावर मैं।'
इस प्रकार ही धीरे-धीरे रात बहुत कुछ बीत गई;
सहसा चौंक पड़ी वह मानों—मिली उसे कुछ वस्तु नई।

बालकृष्ण शर्मा नवीन

नवीन जी का जन्म सं० १९५४ में शाजापुर ग्वालियर राज्य में हुआ था। इनके पिता पं जमनादास जी एक कट्टर वैष्णव थे। उज्जैन के माधव कालेज से एँट्रेन्स पास कर ये श्रीयुत गणेशशङ्कर विद्यार्थी के संपर्क में आ गये, और वहीं कानपुर के एक कालेज में शिक्षा प्राप्त करने लगे। अभी बी० ए० के फाइनल में ही पढते थे, कि असहयोग का आन्दोलन छिड़ गया और ये कालेज छोड़ कर उस आन्दोलन में भाग लेने लगे। पहले साप्ताहिक 'प्रताप' के संपादकीय विभाग में काम करते रहे, फिर कई वर्ष तक 'प्रभा' का सम्पादन कार्य किया। इन दिनों ये दैनिक 'प्रताप' के प्रमुख सम्पादक हैं। इनके राजनीतिक लेखों में ज़ोर होता है। विचार बहुत ऊंचे होते हैं। स्वभाव बहुत विनम्र है। गद्य, पद्य दोनों सुन्दर लिखते हैं।

कविता में इनका आसन 'पन्त' 'प्रसाद' और 'निराला' के साथ है। कविता राष्ट्रीय भावों से पूर्ण हैं। कुछ शृंगार और करुणा के चित्र भी खींचे हैं, जो बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। ऊँचे भाव हैं और ऊँची कल्पना भी। इन दोनों में सुन्दर प्रवाह लक्षित होता है। भाषा सरल और अत्यन्त सुन्दर है। 'विस्मृता-उर्मिला' नामक एक सुन्दर काव्य भी लिखा है, जो शायद अभी तक छपा नहीं। कविताओं का एक संग्रह 'कुंकुम' नाम से छपा है।

"—सिरजन की ललकारें मेरी"

मेरे हिय-मन्थन से निकला यह रस रुचिर पुरातन चिर नव,
आज नए अधिकारों में मैं जग को देता हूँ यह आसव,
कहता हूँ जब तक न बनेगा यह नर नारायण का प्रतिनिधि,
तब तक व्यर्थ सिद्ध होगी यह जगन्मोक्षकारी सब गति-बिधि;
कितने मरदानों को हमने भ्रष्ट किया, क्या कभी विचारा?
कितनी विधियां हम ले डूबे? साक्षी है इतिहास हमारा ॥१॥

बोली वह—'मुझको जल्दी है, एक सकोरा ही भर दो'
लेकर दूध तुरन्त बढ़ गई पैसे छोड़े वहीं पर दो!
खबर नहीं थी उसे तनिक भी होता है क्या कहाँ किधर,
बिना रुके ही सीध बाँध वह पहुँची गंगा के तट पर।
छिपा हुआ था अपर पार के झुरमुट में अस्तंगत रवि,
कुछ किरण ही पत्र-पथों से छींट रही थीं स्वर्णच्छवि।
उतर सीढ़ियों से नीचे को, आस-पास उसने ताका,
सन्नाटा था वहाँ घाट पर सध्या की नीरवता का।
इधर-उधर आते जाते थे फैले-फूटे ही कुछ जन,
किया प्रणाम भक्ति-युत उसने सुरसरि को हो विनत-वदन।
'मेरी बेटी मुझे छोड़ माँ! लेटी है तेरे तल में,
अब तक वह प्यासी ही है हा! रह कर भी अथाह जल में।
यह थोड़ा-सा दूध उसी तक पहुँचा दे, इतना ही कर!
नहीं और कुछ माँगूंगी मैं, दे बस, यह इतना ही वर।
उसकी बची हड्डियों तक ही तू पहुंचा देगी यदि यह;
तृप्ति तनिक तो पा ही लेगी मेरी नन्ही बच्ची वह!'
फिर उसने वह पय प्रवाह में धीरे धीरे बहा दिया,
हाथ उठा लहरों ने उसको झट अपने में मिला लिया।
ऊपर उठ कर ताक रही थी समुदित नव शशि की लेखा;
चम्पा कहा गई फिर तब से, नहीं किसी जन ने देखा।"

× + ×

जाग पड़ा मैं उषःकाल के विहग वरों के सुस्वर से,
वह 'बेडौल बुनी' चादर ही ओढ़े था मैं ऊपर से।
चम्पा के करुणार्द्र स्वरों में 'हो सौभाग्य अचल' कह कह,
मारुत उसमें उठा रहा था गंगा की लहरें रह रह।

एक हिलोर इधर से आए--एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएं, त्राहि त्राहि-रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का, धुआधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएं, भस्मसात् भूधर हो जाए,
पाप पुण्य, सदसद्भावों की,--धूल उड़ उठे दाए वाएं,
नभ का वक्षस्थल फट जाए, तारे टूक टूक हो जाएं,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल पुथल मच जाए ॥१॥

माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाए,
आखों का पानी सूखे,—वे शोणित की घूंटें हो जाएं,
एक ओर कायरता कापे, गतानुगति विगलित हो जाए,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह--अचल शिला विचलित हो जाए,
और दूसरी ओर कंपा देनेवाला गर्जन उठ धाए,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मंडराए,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिस से उथल पुथल मच जाए ॥२॥

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक टूक हो जाएं,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएं;
शान्ति-दण्ड टूटे—उस महारुद्र का सिंहासन थर्राए,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्राङ्गण में घहराए;
नाश! नाश!! हा, महानाश!!! की प्रलयंकरी आख खुल जाय,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल पुथल मच जाए ॥३॥

सावधान! मेरी वीणा में चिनगारिया आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजराबैं युगलागुलिया ये मेरी ऐंठी हैं;
कण्ठ रुका जाता है; महानाश का गीत रुद्ध होता है,

जब तक वैयक्तिक-सामाजिक आचरणों में भेद रहेगा,—
जब तक व्यष्टि-समष्टि धर्म का स्रोत अलग से यहां बहेगा,—
अरे सत्य-शान्ति की सरणि जब तक न विश्व-व्यापिनी बनेगी,—
जब तक न यह नदी छोटी, जग-प्लावक मन्दाकिनी बनेगी,—
जब तक बुद्धि और नैतिक बल गलबहियां डाले न चलेंगे,—
तब तक ईति-भीति के दानव मानवता को सतत खलेंगे ॥२॥
संस्कृति की पूर्णता कहां है ? क्या है चरम सभ्यता नर की ?
भौतिक सम्पन्नता मात्र ही शोभा नहीं मनुज के घर की;
मनोविकार दमन ही केवल माप-दण्ड है चिर-संस्कृति का;
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, भय शाश्वत रिपुदल है संसृति का;
जब तक अवश रहेंगे ये रिपु तब तक कहा नवल युग जग में !
बन्धन ही बन्धन उलझेंगे इस मानवता के पग-पग में ॥३॥
हिंसा और अहिंसा दोनों प्रकृति-सिद्ध गुण हैं मानव के,
विष, मधु, दोनों ही निकले हैं मन्थन-सार हृदय-अर्णव के;
एक राक्षसी क्रीड़ा है तो दूजा है देवत्व दिवाकर;
एक निम्न गति प्रेरक है तो बना अन्य सोपान ऊर्ध्वचर,
हमें खींचना है मानव को ज़ोर लगा नीचे से ऊपर,
क्योंकि ऊर्ध्वगति में ही पाता यह नर निज स्वरूप चिर-सुन्दर ॥४॥
हिंसा में विचार-मन्थन का समय नहीं, अभ्यास नहीं है,
हिंसा में सान्तता भरी है, वा, अनन्त अवकाश नहीं है,
बिना सदाशय-मय प्रणोदना के न समुन्नत होगा मानव,
कैसे हिंसा से हो सकता पराभूत जन-हिय का दानव ?
हिंसा से वह और भड़क कर प्रतिहिंसक बन तन जाएगा,
बिना शान्ति के कैसे उसका हिय-परिवर्तन आ पाएगा ! ॥५॥

विप्लव-गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल पुथल मच जाए ॥

चढ़, चल चढ़ चल, थक मत रे तू बलिदानों के पुञ्ज,
देख कहीं न भुलावे तुझको यह जीवन की कुञ्ज,
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरो कर कर दे पूरी माँ की माल,
है जीवन अनित्य, कट जाने दे तू मोहक बन्ध,
करदे पूरा आज मरण का तू अपना सुप्रबन्ध

उदयशंकर भट्ट

भट्टजी का जन्म कर्णवास ज़िला बुलन्दशहर में १९५५ में हुआ। आपके पिता का नाम श्री फतेशंकर दुर्गाशङ्कर मेहता था। आपको बचपन से ही कविता लिखने का बड़ा शौक था। पहले आप प्रयागसे निकलने वाली संस्कृत की मासिक पत्रिका 'शारदा' में कविता और लेख लिखा करते थे। सन् १९१८ से आपने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया, परन्तु नियमित रूप मे आपका साहित्यिक रचनाकाल १९२८ है। आपको हिन्दी संस्कृत के के अतिरिक्त गुजराती और अंगरेज़ी का भी अच्छा ज्ञान है।

आपकी कविताएं गहरी दार्शनिकता एवं निराशावाद से पूर्ण होती हैं। भाषा सरल सुन्दर और कलापूर्ण होती है। कहीं कहीं संस्कृत-प्रचुर भाषा के भी दर्शन होते हैं। हिन्दी में वियोगान्त नाटक सर्वप्रथम आपने ही लिखे हैं। आप विद्रोही भावना के लेखक हैं, इसी लिये आपने अपने नए काव्य 'मानसी' में रुढियों, और थोथे अध्यात्मवाद का खंडन किया है। ईश्वर भी छूटने नहीं पाया है।

'तक्षशिला' आपकी इतिवृत्तात्मक काव्य-रचना है, और अपने ढंग की सब से पहली। 'विसर्जन' और 'राका' आपकी फुटकर कविताओं के संग्रह हैं। 'मानसी' एक दार्शनिक खण्डकाव्य है। आपके नाटक प्रायः दुःखान्त (Tragedy) होते हैं। उनके कथानक पुराण और इतिहास से लिये गये हैं। पात्रों के सजीव चित्रण में आपको पूर्ण सफलता मिली है। आपके 'विश्वामित्र' और 'मत्स्यगन्धा' को

आग लगेगी त्तण में, हृत्तल में अब त्तुब्ध युद्ध होता है,
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,
रुद्ध गीत की त्तुब्ध-तान—
निकली है मेरे अन्तर-तर से ॥४॥

कण कण में है व्याप्त वही स्वर रोम-रोम गाता वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है—काल-कूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन ज्योति लुप्त है—अहा! सुप्त है संरत्तण की घड़ियां,
लटक रही हैं प्रति पल में इस नाशक संभत्तण की लड़ियां,
चकनाचूर करो जग को—गूंजे ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर-नर से ॥५॥
दिल को मसल-मसल मेंहदी—रचवा आया हूं मैं यह देखो,
एक-एक अंगुलि-परिचालन में नाशक-ताण्डव को पेखो,
विश्व-मूर्ति! हट जाओ—यह बीभत्स प्रहार सहे ना सहेगा,
टुकड़े टुकड़े हो जावेगी, नाशमात्र अवशेष रहेगा,
आज देख आया हूं जीवन के सब राज़ समझ आया हूं,
भ्रू-विलास में महानाश के, पोषक-सूत्र परख आया हूं,
जीवन-गीत भुला दो—कण्ठ मिला दो मृत्यु-गीत के स्वर मे,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान—निकली है मेरे अन्तर-तर से ॥६॥

शिखर पर

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत, रे बलि-वध के सुन्दर जीव,
उच्च कठोर शिखर के ऊपर है मन्दिर की नींव,
बड़े बड़े ये शिला खण्ड मग रोके खड़े अचेत,
इन्हें लाँघ तू, यहि जाना है तुझे मरण के हेत;
ऊपर अगम शिखर के ऊपर, मचा मृत्यु का रास!
नीचे, उपत्यका में, है जीवन-पंकिल का त्रास।

(१)

आखों वाले, तुम बैठे हो मैं आँखें कर बन्द चला,
अरे, उधर तो रात न होती सदा सुबह है शाम नहीं।
'चलो चलो' ही की पुकार है सुस्ताना आराम नहीं।
बिना पैर के चलना होगा करना कहीं मुकाम नहीं

(२)

सूख गये पतझड़ के आँसू वह कितने ऋतुराज यहाँ,
सूख गई ओसों के सुख सी कितनी जीवन साध यहाँ?
मेरा शेष शेष के सुख मे मिला मिला बस देर नहीं,
अनतिदूर अवसिति की आँखे घूर घूर कर घेर रहीं।
चला, चला रे! छोड़ चला सब वहाँ जहाँ का नाम नहीं,
जहाँ बसन्त सदा हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

(३)

मेरे आँगन में भी कुछ दिन रहा खूब उजियाला था,
मेरे भी अरमान कभी थे मैंने भी दिल पाला था।
मेरे सुख पर ढुलक पड़ा था पागल दुनियाँ का पानी,
बिजली बन मुसका उठती थी मेरी आशा दीवानी।
चला, चला रे! छोड़ चला सब वहाँ जहाँ का नाम नहीं,
सुना बसन्त वहीं हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

(४)

यहीं अतीत गुदगुदा मेरी स्मृतियों पर इतराता था,
वर्तमान भी इन चरणों पर अपना हृदय बिछाता था।
घूर रहा था यह भविष्य यों इसका था कुछ ज्ञान नहीं,
हाथ घरोंदे फूट गये सब संग लिया सामान नहीं।

(५)

यहीं पराजय के जमघट में रंगत सदा-बहार छिपी,
यहीं गर्व का सिर नीचा है यहीं विश्व की हार छिपी।

प्रतिष्ठित और गम्भीर समालोचकों ने आदर की दृष्टि से देखा है। ये हिन्दी-साहित्य में बिल्कुल नई वस्तु हैं। 'मत्स्यगन्धा' स्त्री के यौवनकाल की समस्या पर है और विश्वामित्र नर-नारी के संघर्ष पर। 'दाहर' भी एक संघर्षमय ऐतिहासिक नाटक है। प्रचार की दृष्टि से यह नाटक सब नाटकों से अधिक लोकप्रिय हुआ है। 'सगर-विजय, 'अम्बा' और 'कमला' आपकी अन्य नाटक की रचनाएं हैं। आपका भावनाट्य 'राधा' बहुत आदर की वस्तु है। आप को दो बार अपनी पुस्तकों पर पंजाब-सरकार से पुरस्कार भी मिल चुका है।

अपने से

किसने तुझको बहकाया, जो राह भूल कर आया।
इन कांटों की दुनिया में, कह, किसने जी बहलाया?
तू रोता ही उतरा है, जीवन-प्रभात के रथ से।
क्या रोते जाना होगा, इस ऊँचे नीचे पथ से?
किसकी उठती आशा के, यौवन को जग ने देखा?
किसके प्रभात में असफल खिंच गई न काली रेखा?
यदि सृष्टि पहेली तेरी, तो तू भी एक पहेली।
तू उससे खेल रहा है, यह माया तुझ से खेली।
जाग्रति की आँखों में हैं, जीवन का झीना सपना।
है कौन न वहां पराया, जीवन न जहां हो अपना?
दुख देख न हिलकी भरना, सुख में न भूलना राही।
क्या कांटे नहीं उगे हैं, फूलों के संग सदा ही।
पतझड़ ही अन्त यहां है, तेरे वसन्त का राही।
हंसना ही तो रोना है, खिलना मुरझा जाना ही।

महा-प्रस्थान

चला, चला रे! छोड़ चला सब वहां जहां का नाम नहीं,
जहां बसन्त सदा हंसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

(१)

आखो वाले, तुम बैठे हो मैं आँखें कर बन्द चला,
अरे, उधर तो रात न होती सदा सुबह है शाम नहीं।
'चलो चलो' ही की पुकार है सुस्ताना आराम नहीं।
बिना पैर के चलना होगा करना कहीं मुकाम नहीं

(२)

सूख गये पतझड़ के आँसू बह कितने ऋतुराज यहाँ,
सूख गई ओसों के मुख सी कितनी जीवन साध यहाँ?
मेरा शेष शेष के मुख में मिला मिला बस देर नहीं,
अनतिदूर अवसिति की आँखे घूर घूर कर घेर रहीं।
चला, चला रे! छोड़ चला सब वहाँ जहाँ का नाम नहीं,
जहाँ बसन्त सदा हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

(३)

मेरे आँगन में भी कुछ दिन रहा खूब उजियाला था,
मेरे भी अरमान कभी थे मैंने भी दिल पाला था।
मेरे मुख पर ढुलक पड़ा था पागल दुनियाँ का पानी,
बिजली बन मुसका उठती थी मेरी आशा दीवानी।
चला, चला रे! छोड़ चला सब वहाँ जहाँ का नाम नहीं,
सुना बसन्त वहीं हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

(४)

यहीं अतीत गुदगुदा मेरी स्मृतियों पर इतराता था,
वर्तमान भी इन चरणों पर अपना हृदय बिछाता था।
घूर रहा था यह भविष्य यों इसका था कुछ ज्ञान नहीं,
हाथ घरोंदे फूट गये सब संग लिया सामान नहीं।

(५)

यही पराजय के जमघट में रंगत सदा-बहार छिपी,
यहीं गर्व का सिर नीचा है यहीं विश्व की हार छिपी।

अपना अपना मगमरु हजारों आनेवाले चले गये,
यहाँ हजारों इस चितवन पर हृदय मसोसे छले गये।
चला, चला रे ! छोड़ चला मैं चला जहाँ का नाम नहीं,
सुना, बसन्त उधर हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं

(६)

'अथ' से पूर्व, अनन्तर 'इति' के इस जग ने क्या जाना है ?
पर मैं निकल किया क्रय-विक्रय साँझ पड़े घर आना है।
प्रातः पवन खिलाती आई संध्या सब झड़ जाना है,
आते एक दुलारा देखा जाते जग पहिचाना है।
चला, चला रे ! छोड़ चला सब वहाँ जहाँ का नाम नहीं
सुना बसन्त उधर हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं

(७)

सब रो-रो कर मुझे जलाते यह कैसा संसार अहो,
मन में भरा दुलार बाहरी यह कैसा व्यापार कहो !
बदल गया क्षण भर में सब कुछ अब क्या बाकी प्यार नहीं ।
बाहर भीतर सदा एक-सा होता यह संसार नहीं।
चला, चला रे ! छोड़ चला सब वहाँ जहा कुछ काम नहीं
सुनो, बसन्त वहाँ रहता है हंसता, दुख का नाम नहीं

(८)

मुंह देखे की यह दुनिया है मुंह देखे का राग यहा,
लगी सामने जग के आखें फिर पीछे अनुराग कहां !
प्रेम झूमता जिन आंखों में उनमें उतरी मस्ती है,
प्राण-शून्य बस्ती पर अब तो जग की घड़ियां हंसती हैं।
चला, चला मैं इसी लिये हूं चला उधर उस ओर हतारा,
वहां न बुझने वाली मधु की मिलती पथिकों को है प्यास ।

(९)

आने पर हँसते जाने पर रोते हैं मतिमान नहीं,
तुम सब की मंज़िल बाकी है यहां निवास स्थान नहीं।

तेरे उदधि-उदार-भाग में नेकी ही तो आई थी,
और मिलेगी बाट बाट यह रखने का सामान नहीं।

(१०)

कहां चला हूं, कब पहुंचूंगा, यह कहना आसान नहीं,
कौन बता पाया है अब तक मिला एक अनुमान यही।
छोड़ दिया ला यहां किसी ने कोई लेने आया है,
जीवों की क्या बात यहा तो चलती फिरती छाया है।
चला, चला रे ! छोड़ चला अब वहा जहा का नाम नहीं।
जहां बसन्त सदा हंसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

विद्रोही

इस विद्रोही रूढधर्म ने अरि समझा है नर को नर का,
देश देश का हुआ घोर अरि, रक्त रक्त का औ' स्वर स्वर का।
जाति जाति की, कर्म कर्म का, सम्प्रदाय है सम्प्रदाय का,
संस्कृति संस्कृतियों की बैरिन, है उपाय बस पर-अपाय का।
तुम क्या जानो? कितने जीवन अग्नि-शिखा के पान बने हैं,
और लपलपाती जिह्वा से व्यालों के सम्मान बने हैं।
ठुकराते-कराहते कितने इसी धरा के ग्रास बने हैं,
केवल ध्येय-सिद्धि के पीछे जीवन नाश-विलास बने हैं।
अरे आज भी उसी धर्म ने तुम्हें गिरा कर पशु कर डाला,
और स्वार्थ ने मन्थर गति से चल कर मानव को मथ डाला।
एक पृथक्ता तुमने नर के अन्तर में फिर आकर भर दी,
एक भेद की भित्ति सुदृढ़-सी लाकर खड़ी कहीं से करदी।
आज बन्धुता फूट-फूट कर मुँह ढक आँचल में रोती है,
आज शान्ति नर आसू से अपना अंग-अंग धोती है।
राजनीति यह नहीं, नाश का यह विराट-सा आवाहन है,
कुटिल नीति यह नहीं, मृत्यु का—महामृत्यु का आवाहन है।

आओ, बढ़ कर आग लगा दे उस समाज में, जिसमें छल है,
जिसमें कपट ईर्षा जलती, जहां स्वार्थ का दावानल है।
जहां भृकुटि के संकेतों पर कोटि कोटि के प्राण छूटते,
वैभव खेल खेल में नर को मसल-मसल आनन्द लूटते।
जहां बेगुनाहों की लाशें एक नया पर्वत बन जातीं,
जहां बादलों की छाती से जाकर पीड़ाएँ टकरातीं।
वहां फूट चल एक बार तू विश्ववह्नि ओ! महाज्वाल तू!
वहाँ भभक कर धरा फोड़, नभ तोड़, चण्ड हो महाकाल तू!
मैं विद्रोही मुझे शाप का कोई भी सन्ताप नहीं है,
मेरा तो बस धर्म यही है यही कि मुझ में पाप नहीं है।
आडम्बर भी नहीं, विनय भी नहीं, कपट भी नहीं, कहीं है,
नग्न-नाग से खेल खेल कर तुम्हें सुनाना सही सही है।

विजया-दशमी

आज पराजय के पथ में यह कैसे भूली विजय मिली।
सदियों की ज़ंजीर झनझना याद दिलाती कौन चली!
मेरी कारा टूट जायगी अरी झाँकते ही तेरे।
मुश्किल से अरमान सुलाए अभी रुकें आँसू मेरे॥
स्मृतियों से पहले की स्मृतियो! तुम्हें बुलाने कौन गया!
हमें दासता में मरने दो क्यों दुहरातीं पाठ नया!
तुमने राम-चरण की रज पर विजयावलियाँ लिख डालीं।
जिनकी हुंकृति पर सब जग की आँखों की बिखरी लाली॥
सुधि है बलियों का झंझा के झोकों पर विजयी होना।
और दुधमुहों के थप्पड़ से सिंहों का सुधबुध खोना।
सुधि है छोटे से रघु द्वारा इन्द्रासन कँप जाने की।
सुधि है क्षात्र-तेज के आगे भूमण्डल थर्राने की॥

सुधि है केवल हाथ उठा कर प्रण करते वसुधा-धर की।
शोणित भर भर पीने वाले रणचण्डी के खप्पर की॥
स्मृतियां कुछ कुछ अभी बची हैं विश्व-विजय करने वाली।
अब भी कभी कभी रोती हैं, उन पर आँखें मतवाली॥
कल ही तो उस चन्द्रगुप्त के सम्मुख यूनानी हारे।
कल ही तो अशोक की पद-रज सिर धरते भूपति सारे॥
पर कवि, उन्हें याद करने का तुमको है अधिकार नहीं।
भूलो, उन पवित्र चरणों की स्मृति का यह संसार नहीं॥
आज सभी कुछ उलट गया है उलटी हवा जमाने की।
आज यहाँ रोने की बारी लज्जित हो मर जाने की॥
अब जीवन में पराजयों का जमघट ही तो बाकी है।
तब तो मृत्यु मृत्यु, में थी अब जीवन में भी झाँकी है॥
रहने दो, मत याद दिलाओ उन घड़ियों की मतवाली।
ज़ंजीरें चटचटा उठेंगी सदियों की काली काली॥
आज विजय की याद दिलाना पराजयों पर रोना है।
एक कलंकित पतित जाति का शुभ्र शुभ्रतर होना है॥

मेरा बचपन

मैं गाड़ी से उतरा ही था कोई सुख गुदगुदा आगा।
मुझे न था मालूम कहां मैं आया और कहां पर जागा।
मुंह में दिये अँगूठा पग का मैं कोने में पड़ा हुआ था।
मैंने देखा एक अनोखा सुघड़ खिलाड़ी खड़ा हुआ था॥

घुटनों के बल मुझे नचा कर 'तिक् तिक्' करता आया बचपन।
आप नाच कर मुझे नचाता एक नया जग लाया बचपन।
आँखमिचौनी खेल रहे थे हम दोनों फिर यह क्या पाया।
उसे पकड़ने आगे दौड़ा पीछे ही वह कहीं विलाया॥

पीछे मुड़ कर देखा मैंने, देखा बचपन दूर खड़ा था।
मैं पीछे मुड़ गया न वह भी अपनी धुन में वहीं खड़ा था।
टूट गई कच्ची रस्सी भी उससे वही मित्रता मेरी।
किसी एक जादूगरनी ने आ जादू की लकड़ी फेरी॥
अब भी आँखें ढूंढ रही हैं रोज़ सुखद अल्हड़पन अपना।
अब भी आँखों में हँसता है उस मीठी दुनियाँ का सपना।
अरे, इधर ही कहीं छिपी है सुघड़ खिलौनों भरी पिटारी।
ज़रा ढूँढ लाऊँ मैं ठहरो, बचपन की वह मधुर खुमारी॥
अरे, यहां मैं भूला अपना खड़ा सुनहला बाग हरा-सा।
कहां भूल आया हूं अपना वह बचपन संगीत भरा-सा।
अब तो बचपन एक कहानी दादी जहां रोज़ घुस आती।
जहाँ रात को परियां आकर उड़नखटोले पर ले जातीं॥
चलो भूल जाओ, वह अब तो कहीं हो गया मीठा सपना।
अब तो सम्मुख रात खड़ी है. अब तो जीवन सदा कलपना।
कौन दौड़ ही सका यहाँ है पीछे को अपने जीवन में।
और पकड़ ही पाया किसने बीता जग आगे की धुन में!

सुख की क्षणिकता

दुख-स्वप्न-अनिल से काँप रहे कण आशा के पथ-हीन हुए।
स्मृति-सुख का रोमन्थन करते सब साधन बिगड़े दीन हुए।
दुख के तालों पर थिरक थिरक जब सुख-मदमाती लहर चली।
वह साथिन लहरों से हँस कर हा! क्रमशः वहीं गई निगली।
किसने परिणामों में पाया संचित आशा भरा सिंगार।
मैं संसार विहार-स्थल पर निरख रहा यह बारंबार॥

उपालंभ

गीतों में स्वर-भंग, हृदय में भय किसने भर डाला।
भव्य-भक्ति में द्रोह, राग में निर्विषयों की ज्वाला।

वीर-भाव में क्लैव्य, प्रेम में अनबन कैसी आई।
विश्वासों में वञ्चकता ने छल काई फैलाई।
घोल क्षार सागर में किसने उसका मद मथ डाला।
स्वतन्त्रता में पारतंत्र्य विष घोला कुत्सित काला।
राजनीति में क्यों उठ उसने क्रान्ति थपेड़ लगाई?
निर्मल पुष्करिणी में हे विधि, क्यों पैदा की काई?

पथिक से

चल तू अपनी राह पथिक, चल, तुझको विजय-पराजय से क्या?
भँवर उठ रहे हैं सागर में,
मेघ घुमड़ते हैं अम्बर में,
आँधी औ' तूफान डगर में,
तुझको तो केवल चलना है, चलना ही है फिर हो भय क्या?
चल तू.......
इस दुनियाँ में कहीं न सुख है,
इस दुनियाँ में कहीं न दुख है,
जीवन एक हवा का रुख है,
होने दे होता है जो कुछ इस होने का हो निर्णय क्या?
चल तू.......
अरे, थक गया! फिर बढ़ता चल,
उठ, संघर्षों से अड़ता चल,
जीवन विषम पन्थ चढ़ता चल,
अड़ा हिमालय हो यदि आगे 'चढ़ूँ कि लौटूँ' यह संशय क्या?
चल तू.......
कोई रो रोकर सब खोता,
कोई खोकर सुख से सोता,
दुनियाँ में ऐसा ही होता;

जीवन का क्रम मरण यहां पर निश्चित ध्येय यदि फिर 'त्रय' क्या ?
चल तू अपनी राह पथिक, चल……

गीत—

हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?
मैं तिमिर में ढूँढता हूँ हृदय का उल्लास क्यों ?
गुफा तारक निचय ऊपर
खोजता क्या उतर भूपर
तू धरा का दीप बन जल, माँगता आकाश क्यों ?
हो गया यह हास. ……. …
बूँद सा अधिकार मेरा
चमक लघु, पर गुरु अँधेरा
अँधेरे में ले रहा हूँ दामिनी की आशा क्यों ?
हो गया यह हास………
मैं हृदय की कह न पाया
ओस सा ढल बिखर आया
फेंक पिछले दूर कोई फिर बुलाता पास क्यों ?
बन गया यह हास मेरा सब जगह उपहास क्यों ?

भगवतीचरण वर्मा

संयुक्तप्रान्त के उन्नाव ज़िले में शफीपुर एक गाँव है। वहीं सं० १९६
में बाबू भगवतीचरण का जन्म हुआ। इनके पिता कानपुर के प्रसि
वकील थे। इन्होंने भी बी० ए० के बाद वकालत की परीक्षा पास क
परन्तु वकालत में मन नहीं लगा और स्वतन्त्र रूप से साहित्य-सेवा क
लगे। आजकल ये कलकत्ते की एक फिल्म कम्पनी में कहानियाँ लिखते
कविता लिखना इन्होंने स्कूल काल में ही आरम्भ किया था। 'प्रत
के सम्पादक पं० गणेशशंकर विद्यार्थी इन्हें प्रोत्साहन देने वाले थे।

इनकी कविताएं बहुत लोकप्रिय हुई हैं। इन्होंने प्रेम और सौन्दर्य का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। ये कर्मयोग में ध्रुव विश्वास रखते हैं। आदर्श बहुत ऊँचा है और इसके लिये बहुत सुन्दर भावों की सृष्टि की है। भाषा साफ़ सुथरी है, मुहावरे का प्रयोग ज़ोरदार है और गठन में स्वाभाविकता है।

'मधुकण' और 'प्रेम-संगीत' इनकी कविताओं के दो संग्रह छप चुके हैं। ये उपन्यास और कहानी भी बहुत सुन्दर लिखते हैं। 'पतन', चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष' इनके उपन्यास हैं, और 'इन्स्टालमेंट' सुन्दर कहानियों का संग्रह।

परिचय

यह न समझना देवि! कि मुझको निज ममत्व का ज्ञान नहीं,
इस विस्मृति के विषम वक्ष में रुदन नहीं, मुसकान नहीं;
इस सपनों से भरी नींद में हलचल नहीं, विराम नहीं,
अरे अधर के इस प्रदेश में पतन नहीं, उत्थान नहीं ॥१॥
एक, एक के बाद दूसरी—तृप्ति प्रलय पर्यन्त नहीं,
अभिलाषा के इस जीवन का आदि नहीं है, अन्त नहीं!
यहाँ सफलता असफलता के बन्धन का अभिशाप नहीं,
यहाँ निराशा औ' आशा का पतझड़ नहीं, बसन्त नहीं ॥२॥
जो पूरी हो सके कभी भी मेरी ऐसी चाह नहीं,
यहाँ महत्त्वाकाङ्क्षाओं की परिधि नहीं है, थाह नहीं,
बचा हुआ हो निखिल विश्व का ऐसा कोई भाग नहीं,
उद्गारों के प्रबल स्रोत का रुकता कभी प्रवाह नहीं ॥३॥
क्या भविष्य है? नहीं जानता मुझको ज्ञात अतीत नहीं,
सुख से मुझको प्रीति नहीं है दुख से मैं भयभीत नहीं,
लड़ता ही रहता हूँ प्रतिपल बाधाओं का पार नहीं,
काल-चक्र के महासमर में जीत नहीं है हार नहीं!॥४॥
इस मादकता के प्रवाह में कसक नहीं, उल्लास नहीं।
मेरी इस उत्तम भूमि में शिशिर नहीं, मधुमास नहीं।

ठसक नहीं वैभव की मुझको, निर्धनता का ताप नहीं।
इस समता के उच्च-भाव में गर्व नहीं निःश्वास नहीं ॥५॥
जो कि जला सकता हो मुझको ऐसा कोई ताप नहीं,
दीवानों को लग सकता हो जग में ऐसा शाप नहीं।
यहाँ असम्भव अथवा सम्भव पर मुझको विश्वास नहीं।
मेरी क्रीड़ा के प्रांगण में पुण्य नहीं है, पाप नहीं ॥६॥
इस जीवन के तीखेपन में विनय नहीं, अभिमान नहीं;
"और, और" को छोड़ यहाँ पर और दूसरा ध्यान नहीं!
इस अनन्त का कोई भी कण मेरे लिए अजान नहीं।
यह न समझना देवि! कि मुझको निज ममत्व का ज्ञान नहीं ॥७॥"

मेरी आग

(१)

निज उर की वेदी पर मैंने महायज्ञ का किया विधान,
समिधि बना कर ला रक्खे हैं चुन चुन कर अपने अरमान;
अभिलाषाओं की आहुतियाँ ले आया हूँ आज महान,
और चढ़ाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान;
अभिमन्त्रित करता है उसको इन आहों का भैरव-राग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

(२)

आमन्त्रित हैं यहाँ कसक से क्रीड़ाएँ करने वाले,
हृदय-रक्त से निज वैभव के प्यालों को भरने वाले;
जीवन की अतृप्त तृष्णा से तड़प तड़प मरने वाले;
अंधकार के महा उदधि में अन्धों से तरने वाले;
फूल चढ़ाने वे आये हैं जिनमें मिलता नहीं पराग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग।

(३)

इस उत्सव में आन जुटे हैं हँस हँस बलि होने वाले,
निज अस्तित्व मिटा कर पल में तन मन धन खोने वाले;
उर के आँसू से इस जग की कालिख को धोने वाले,
हँसने वालों के विषाद पर जी भर कर रोने वाले;
आज आँसुओं का घृत लेकर आया है मेरा अनुराग।
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

(४)

यहाँ हृदय वालों का जमघट, पीड़ाओं का मेला है,
अर्घ्यदान है अपने पन का, यह पूजा की वेला है;
आज विस्मरण के प्रांगण में जीवन की अवहेला है,
जो आया है यहाँ, प्राण पर वह अपने ही खेला है;
फिर न मिलेंगे ये दीवाने, फिर न मिलेगा इनका त्याग।
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

(५)

लपटें हों विनाश की जिनमें जलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापों के अङ्गारों में झुलस रहा हो विभव निधान;
अरे क्रान्ति की चिनगारी से तड़प उठे वासना महान,
उच्छ्वासों के धूम्र-पुञ्ज से ढक जावे जग का अभिमान;
आज प्रलय की वह्नि जल उठे जिसमें शोला बने, विराग।
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

रामकुमार वर्मा

रामकुमार वर्मा का जन्म सं० १९६२ मे मध्यप्रदेश के सागर जिले के एक गांव में हुआ था। इनके पिता श्रीयुत लक्ष्मीप्रसाद एक ऊंचे सरकारी

पद पर प्रतिष्ठित थे। पढ़ने-लिखने में ये खूब पटु थे; स्कूल की प्रत्येक श्रेणी में इनका नम्बर सब से पहिला रहता था। कविता का शौक भी उन्हें स्कूल-काल में ही लगा था। इन्होंने एम० ए० में हिन्दी लेकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में परीक्षा पास की और फिर इसी विश्वविद्यालय में ही हिन्दी के लेक्चरार के पद पर नियुक्त हो गये और आज कल इसी पद को सुशोभित कर रहे हैं।

वर्मा जी कवि होने के साथ ही विद्वान् भी उच्च कोटि के हैं। इनका अंग्रेज़ी, संस्कृत और हिन्दी-साहित्य में पूर्ण अधिकार है। रचना इनकी नवीन कोटि की है, किन्तु दूसरे कवियों की भांति उतनी अस्पष्ट नहीं। भाषा संस्कृतमयी हो कर भी सरल और सीधी है। कविता में अनुभूति और भावना प्रधान है। ये संसार की प्रत्येक वस्तु असार और क्षणभङ्गुर समझते हैं। इन्होंने कुछ प्रेम के गीत भी गाये हैं किन्तु उनमें भी नैराश्य और वेदना के दर्शन होते हैं। इतना होने पर ये सौन्दर्य के उपासक भी ज़रूर हैं, इनका सौन्दर्य का वर्णन भी अनूठा है।

स्कूल-काल से लेकर अब तक की इनकी कविताओं में एक क्रमिक विकास देख पड़ता है और यह विकास का क्रम अभी तक जारी है। 'वीर-हमीर' कुलललना' 'चित्तौड़ की चिता' 'रूप-राशि' 'शुजा' 'नूरजहां' तथा 'निशीथ' इनके इतिवृत्तात्मक काव्य हैं। इनमें से पहली तीन रचनायें प्राथमिक काल की हैं। 'चित्ररेखा' और 'चन्द्रकिरण' इनकी रहस्यवादपूर्ण स्फुट कविताओं के संग्रह हैं। 'चित्ररेखा' पर इन्हें दो हजार का देव पुरस्कार भी मिल चुका है। 'अञ्जलि' और 'अभिशाप' सुन्दर मुक्तक और गीतिकाव्य हैं। 'जौहर' नाम से इनकी कविताओं का एक संग्रह लाहौर से छपा है।

वर्मा जी ने प्राचीन संत-साहित्य का भी बड़े मनोयोग के साथ अध्ययन किया है। कबीर के सम्बन्ध की समालोचनात्मक रचना 'कबीर का रहस्यवाद' इनकी एक अपूर्व वस्तु है। 'हिन्दी-साहित्य का समालोचनात्मक इतिहास' और 'साहित्य-समालोचना' भी सुन्दर रचनाएँ हैं।

अस्थिर जीवन

रामकुमार वर्मा

खिले हुए हैं फूल, धूल को ही सकते हैं चूम,
फिर भी इतने इतराते हैं ये यौवन में भूम।
कितने रंगों में करते हैं ये सदैव ही स्नान,
इनके शीघ्र सूख जाने का क्या न इन्हें है ध्यान?
हाय अन्त में रंग नहीं पर होगी सूखी धूल,
और धूल ही कहलावेंगे नहीं सुगन्धित फूल।
वैसा ही यह यौवन है कब तक होगा आनन्द,
अरे एक दिन होवेगी चञ्चल चितवन बन्द।
यह समान मुसकान कर रही जिसमें सुधा-निवास,
बन जावेगी दन्तहीन वृद्धा का अट्टाहास।
ये घुँघराले केश बनेंगे मकड़ी के सित जाल,
गाल शुष्क हो जावेंगे मानो हों सूखे ताल।

अशान्त

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत?
जीवन की इस प्रथम हार में, कैसे देखूं जीत?
उषा अभी सुकुमार; क्षणों में—होगी वही मनोज्ञ,
लता बनेगी ओस-बिन्दु की, सरल मृत्यु की [illegible]।
कह सकता है कौन, देखता हूं मैं भी चुपचाप।
किसका गायन बने, न जाने मेरे प्रति अभिशाप।
क्या है अन्तिम लक्ष्य—निराशा के पथ का?—अज्ञान!
दिन को क्यों लपेट देती है श्याम वस्त्र में रात?
और, काँच के टुकड़े बिखरा—कर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को दुख—देता है नभ नीच!
यही निराशामय उलझन है, क्या [illegible]
यहाँ लता में लिपटा र [illegible]

हास्य कहाँ है? उसमें भी है, रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है? घृणा उसी में करती है विश्राम।
दया कहाँ है? दूषित उसको—करता रहता रोष,
पुण्य कहाँ है? उसमें भी तो—छिपा हुआ है दोष।
धूल हाय! बनने ही को, खिलता है फूल अनूप,
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहिला रूप।
मेरे दुख में प्रकृति न देती, क्षण भर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है, मेरा भिक्षुक-हाथ।
मेरे निकट शिलाएँ, पाकर, मेरा श्वास—प्रवाह,
बड़ी देर तक गुञ्जित करती—रहतीं मेरी आह।
"मर-मर" शब्दों में हँस कर, पत्ते हो जाते मौन,
भूल रहा हूं स्वयं, इस समय मैं हूं जग में कौन?
वह सरिता है—चली जा रही—है चंचल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते, दोनों तट विश्राम,
मैं भी तो चलता रहता हूँ, निशिदिन आठों याम,
नहीं सुना मेरे भावों ने, 'शांति-शाति' का नाम।
लहरों को अपने अंगों में, तट कर लेता लीन,
लीन करेगा कौन? अरे, यह मेरा हृदय मलीन॥

चंद्र-किरण

यह चंद्र-किरण भू-पर आई।
साहस तो देखो, नभ-वासिनि
पृथ्वी पर यह नव छवि लाई।
एकाकीपन का लिए भार
तम के प्रदेश को किया पार,
प्रतिक्षण विस्तृत हो रेख-रूप,

कर दिया विमल तन तार-तार।
मेरे दृग में खोकर उसने
बोलो, क्या जीवन-निधि पाई! यह...
तज नक्षत्रों से पूर्ण लोक,
आलोक छोड़ निज ज्योति रोक,
मेरी पृथ्वी, जो है मलीन,
जिसमें है पीड़ा, रुदन, शोक,
उसमें आने के हेतु न-जाने
क्यों इतनी यह ललचाई! यह....

दीपक से

तुम्हें बुझाने का साहस क्यों करे अरे, सांसों की धारा;
तुम दीपक हो, जलना ही तो जग में है अस्तित्व तुम्हारा।
यह तो है संसार, यहाँ पर जल-जल कर ही मर जाना है;
स-तम बना अपना भविष्य, जग को प्रकाशमय कर जाना है।
आओ, हम दोनों जल कर
छोटा-सा क्षण आलोकित कर दें;
अपनी पीड़ा के प्रकाश से
जग को क्रीड़ा का अवसर दें

तारों के प्रति

सजीले नभ के राजकुमार
सूक्ष्म रश्मियों की बूंदों का यह शैशव आकार
नभ के विस्तृत जीवन में आशाओं का अवतार
उतरो मत फूलों में ले ओस बिंदु का रूप
दो दिन के जीवन में करलूं तुमसे अपना प्यार
सजीले नभ के राजकुमार
कुहू निशा में अंधकार सागर का आया ज्वार
खद्योतों में उड़ती थी जब नव किरणें साकार

मेरी दुखाती आँखों में जब था आँसू का भार
उन्हीं आँसुओं में आये थे ले अपना आकार
सजीले नभ के राजकुमार

महादेवी वर्मा

बाबू गोविन्दप्रसाद वर्मा एम० ए० एल० एल० बी० फरुखाबाद के एक ख्यातनामा वकील हैं। महादेवी वर्मा उन्हीं की वरपुत्री हैं। इनका जन्म सं० १९६४ में हुआ। सं० १९८१ में इन्होंने इंट्रेंस पास किया और उसमें वे सारे संयुक्तप्रान्त में प्रथम आईं। सं० १९८५ में संस्कृत और फिलास्फी के वैकल्पिक विषयों के साथ बी० ए० किया और इसके दो वर्ष बाद संस्कृत लेकर एम० ए० किया। तुकबन्दी ये बचपन से ही किया करती थीं। शिक्षा के विकास के साथ साथ इनकी तुकबन्दी को भी विकास प्राप्त हुआ और वह सुन्दर कविता में परिणित हो गई। आजकल छायावाद के प्रसिद्ध कवियों में इनकी गणना होती है।

ये चित्रकला और संगीत से भी प्रेम रखती हैं और इनके गीत बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।

इनकी कविता में स्त्रीस्वभाव-सुलभ कोमलता और मधुर संगीत है। इनके नैराश्य, व्यथा और पीड़ा के भावों को पढ़ कर समवेदना पैदा हो उठती है। इन भावों की उपासना में ये दूसरी 'मीरा' जान पड़ती हैं। किन्तु अबकी इनकी नई कविताएँ प्रकाशित हुई हैं उनमें ये कुछ शान्त और सन्तुष्ट नज़र आती हैं, इनका रूप कुछ गम्भीर हो गया है।

इनके 'नीहार' और 'रश्मि' नाम के संग्रहों में दुःखान्त कविताएं संगृहीत हैं। 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' में आत्मानुभूति और सन्तोष झलकता है। 'नीरजा' पर इन्हें साहित्य सम्मेलन की ओर से ५०० रुपये का पुरस्कार भी मिल चुका है।

आजकल ये प्रयाग विद्यापीठ की प्रिन्सिपल हैं और पिछले कई वर्षों से 'चाँद' का सम्पादन भी करती हैं।

संसार

निश्वासों की नीड़, निशा का बन जाता जब शयनागार,
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के बन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख लिख जाता है 'कितना अस्थिर है संसार!,
हँस देता जब प्रात, सुनहरे अञ्चल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब मचलीं पड़तीं किरणें भोली,
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती है 'कितना मादक है संसार!'
देकर सौरभ दान पवन से कहते जब मुरझाये फूल,
'जिसके पथ में बिछे वही क्यों करता इन आंखों में धूल?'
'अब इनमें क्या सार' मधुर जब गाती भौरों की गुञ्जार,
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है संसार!'
स्वर्ण वर्ण से दिन खिल जाता जब अपने जीवन की हार,
गोधूली, नभ के आँगन में देती अगणित दीपक वार,
हंस कर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़ बढ पारावार,
'बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार!'
स्वप्नलोक के फूलों से कर अपने जीवन का निर्माण,
'अमर हमारा राज्य' सोचते हैं जब मेरे पागल प्राण,
आकर तब अज्ञात देश से जाने किसकी मृदु झङ्कार,
गा जाती है करुण स्वरों में 'कितना पागल है संसार!'

मुरझाया फूल

था कली के रूप शैशव—में अहो सूखे सुमन!
हास्य करता था, खिलाती अंक में तुझको पवन।

मिल गया जब पूर्ण तू—मञ्जुल सुकोमल पुष्पवर
लुब्ध मधु के हेतु मँडराने लगे आने भ्रमर
स्निग्ध किरणें चन्द्र की—तुझ को हँसाती थीं सदा,
रात तुझ पर वारती थी मोतियों की सम्पदा।
लोरियाँ गाकर मधुप निद्रा विवश करते तुझे
यत्न माली का रहा—आनन्द से भरता तुझे
कर रहा अठखेलियाँ—इतरा सदा उद्यान में,
अन्त का यह दृश्य आया—था कभी क्या ध्यान में?
सो रहा अब तू धरा पर—शुष्क बिखराया हुआ,
गन्ध कोमलता नहीं मुख मंजु मुरझाया हुआ।
आज तुझको देखकर चाहक भ्रमर धाता नहीं,
लाल अपना राग तुझ पर प्रात बरसाता नहीं।
जिस पवन ने अङ्क में ले प्यार था तुझको किया,
तीव्र झोंके से सुला उसने तुझे भूपर दिया।
कर दिया मधु और सौरभ दान सारा एक दिन,
किन्तु रोता कौन है तेरे लिये दानी सुमन?
मत व्यथित हो फूल! किसको सुख दिया संसार ने?
स्वार्थमय सबको बनाया है यहाँ करतार ने।
विश्व में हे फूल! तू सब के हृदय भाता रहा!
दान कर सर्वस्व फिर भी हाय हर्षाता रहा।
जब न तेरी ही दशा पर दुख हुआ संसार को,
कौन रोयेगा 'सुमन! हम से मनुज निःसार को!

अधिकार

वे मुस्काते फूल, नहीं—जिनको आता है मुरझाना,
वे तारों के दीप नहीं—जिनको भाता है बुझ जाना।
वे नीलम के मेघ, नहीं—जिनको है घुल जाने की चाह,
वह अनन्त ऋतुराज नहीं—जिसने देखी जाने की राह।

वे सूने से नयन, नहीं—जिनमें बनते आँसू-मोती,
वह प्राणों की सेज नही—जिसमें बेसुध पीड़ा सोती।
ऐसा तेरा लोक, वेदना नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं जिसने जाना मिटने का स्वाद!
क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार!

"दीपक में पतङ्ग जलता क्यों?"

दीपक में पतङ्ग जलता क्यों? प्रिय की आभा में जीता फिर
दूरी का अभिनय करता क्यों? पागल रे पतङ्ग जलता क्यों?
उजियाला जिसका दीपक में, तुझमें भी है वह चिनगारी;
अभी ज्वाला देख, अन्य की ज्वाला पर इतनी ममता क्यों?
गिरता कब दीपक, दीपक में, तारक में तारक कब घुलता;
तेरा ही उन्माद शिखा में जलता है फिर आकुलता क्यों?
[illegible] जड़ जीवन, जीवन से तम दिन में मिल दिन हो जाता;
पर जीवन के, आभा के कण एक सदा, भ्रम में फिरता क्यों?
जो तू जलने को पागल हो, आँसू का जल स्नेह बनेगा,
धूमहीन निस्पन्द जगत में जल बुझ, यह क्रन्दन करता क्यों?
दीपक में पतङ्ग जलता क्यों?

जीवन दीप

किन उपकरणों का दीपक, किसका जलता है तेल,
किसकी वर्ति, कौन करता इसका ज्वाल से मेल?
शून्यकाल के पुलिनों पर आकर चुपके से मौन,
इसे बहा जाता लहरों में वह रहस्यमय कौन?
कुहरे-सा धुँधला भविष्य है, है अतीत तम घोर,
कौन बता देगा, जाता यह, किस असीम की ओर?
पावस की निशि में जुगनू-सा ज्यों आलोक प्रसार,
इस आभा में लगता तम का और गहन विस्तार।

इन उत्ताल तरंगों पर सह झंझा के आघात,
जलना ही रहस्य है, बुझना है नैसर्गिक बात।

जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द

मिलिन्दजी का जन्म ग्वालियर रियासत के मुरार नामक गाँव में सं० १९६४ में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा प्रायः राष्ट्रीय विद्यालयों में ही हुई। का विद्यापीठ के ये स्नातक हैं। भारत की कई भाषाओं में इन की गति है। सा भर ये शान्ति निकेतन में अध्यापन कार्य कर चुके हैं। यों तो ये १४ वर्ष आयु से ही कविता करने लगे थे किन्तु शान्ति निकेतन का वातावरण पाक इनकी कविता सचमुच की कविता हो गई, उसमें कविता-उपयोगी पूर्ण विकार आ गया।

मिलिन्द जी प्राकृतिक सौन्दर्य के उपासक हैं। उनका प्रकृतिनिरीक्षण ऊँचा है, कल्पना उर्वरा है, उसका बल पाकर प्रेम और करुणा के चित्रों में जान आ गई है। कुल मिलाकर इनकी कविता आध्यात्मिक कोटि की है, जिसका सम्बन्ध हृदय के साथ होता है। उसमें उन्माद भरा है और मीठा उन्माद।

'पंखुरिया'' और 'जीवन-संगीत' इनकी कविताओं के उत्तम संग्रह और 'प्रतापप्रतिज्ञा' सुन्दर नाटक।

उगता राष्ट्र

(१)

मेरे किशोर, मेरे कुमार!
अग्नि-स्फुलिंग, विद्युत् के कण, तुम तेजपुंज, तुम निर्विषाद,
तुम ज्वालागिरि के प्रखर स्रोत, तुम चकाचौंध, तुम वज्रनाद;

तुम मदन-दहन दुर्धर्ष रुद्र के वहिमान दृग् के प्रसाद,
तुम तप-त्रिशूल की तीक्ष्ण धार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(२)

तुम नव जागृत उत्साह, तीव्र उत्कंठा, उत्सुक अथक प्राण,
तुम जिज्ञासा उद्दाम, विश्व-व्यापक बनने के अनुष्ठान;
उच्छृंखल कौतूहल, जीवन के स्फुरण, शक्ति के नव निधान,
तुम चिर-अतृप्ति अविरत सुधार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(३)

अक्षय संजीवन-प्रद मद से कर अंतर-तर भरपूर, शूर,
तुम एक चरण में भय, चिंता, संदेह, शोक कर चूर-चूर
प्राणों की विप्लव-लहर विश्व में पहुँचा देते दूर-दूर !
तुम नवयुग के ऋषि, सूत्रधार ! मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(४)

उन्मत्त प्रलय की तन्मयता तुम ताण्डव के उल्लास-हास,
युग परिवर्तन की आकांक्षा, उच्छृंखल सुख की तीव्र प्यास,
तुम वन्य कुसुम, तुम नग्न-प्रकृति पावनता की सुगंध वास,
तुम आडंबर पर पद-प्रहार ! मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(५)

तुम यौवन-फल के पुष्प और शैशव-कलिका के हो विकास,
तुम दो विश्वों के संधिस्थल पर आशा के उज्ज्वल प्रकाश;
तुम जीर्ण जगत् के नव-चेतन, वसुधा के उर के अमर श्वास,
तुम उजड़े उपवन की बहार ! मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(६)

तुम वह प्राणद सन्देश, बिसर जाते जिससे दुख, दैन्य, क्लेश,
वह मस्ती, जिस पर असुर सुरा,-सुर सुधा, गरल वारें महेश;

तुम [illegible] के [illegible] के [illegible] वह [illegible],
[illegible] मेरे किशोर, मेरे कुमार!

(७)

[illegible] तुम [illegible] के [illegible],
[illegible] 'आज़ादी' [illegible]
[illegible],
तुम [illegible] मेरे किशोर, मेरे कुमार!

(८)

तुम [illegible] अगणित [illegible],
[illegible] निर्झर,
[illegible] निर्झर,
तुम [illegible] महिमा [illegible]! मेरे किशोर, मेरे कुमार!

(९)

जीवन के [illegible] को [illegible] कर,
[illegible], मोह, [illegible] उठ ऊपर,
जो [illegible] 'धक-धक' [illegible],
तुम वह तेजस्वी मन उदार! मेरे किशोर, मेरे कुमार!

(१०)

जो नर से कोसों दूर पहुँच [illegible] चिता का भार करे,
मँझधार [illegible] में अभय विमल [illegible] से जिसके अनुराग झरे,
जो जीवन-नौका फँसा भँवर में लहरों से खिलवाड़ करे,
तुम वह तूफ़ानी कर्णधार! मेरे किशोर, मेरे कुमार!

(११)

तुम नूतन की जय, जिसको सुन कँप उठता जीर्ण जगत 'थर-थर',
वह वायुवेग, द्रुत होती गति जिससे मानवता की मंथर;
वह जागृति-किरण, अलस पलकों पर तप्त शलाका-सी लगकर,
जो खुलवाती कर्त्तव्य-द्वार! मेरे किशोर, मेरे कुमार!

(१२)

माँ के अँचल की ममता या यौवन के सुख का लोभ नहीं,
जर्जरित जरा का पछताना, बीते जीवन का क्षोभ नहीं;
तुम वर्तमान के कठिन कर्म, छू सकता तुमको मोह कहीं ?
कर सकता बंदी तुम्हें प्यार ? मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१३)

तुम नहीं डराये जा सकते शस्त्रों से, अत्याचारों से,
तुम नहीं भुलाये जा सकते वीणा की मृदु झंकारों से;
तुम नहीं सुलाए जा सकते थपकी से प्यार-दुलारों से,
तुम सुनते पीड़ित की पुकार ! मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१४)

चल रहे, सींच आशा शोणित से, चरम लक्ष्य अपना पाने,
कितने दुर्गम पथ पार किए, कितने वन पर्वत हैं छाने !
तुम हठी भगीरथ, नवयुग की गंगा के पीछे दीवाने !
इस तप पर जीवन रहे वार ! मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१५)

मेरे 'प्रह्लाद' ! दमन-ज्वाला में मंद-स्मित बिखराते हो !
मेरे 'ध्रुव' ! बाधा चीर इष्ट पथ पर बढ़ते ही जाते हो !
मेरे 'शुक' ! प्रबल प्रलोभन में तुम अविचल धैर्य दिखाते हो !
तुम तप्त स्वर्ण, तुम निर्विकार ! मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१६)

जिसके सम्मुख आ छिन्न-भिन्न हों क्षण में युग-युग के बंधन,
बह जायँ अमित साम्राज्य प्रबल, ढह जायँ समुन्नत स्वर्ण-भवन,
गौरव-सिंहासन, गर्व-मुकुट भू-लुंठित हों बनकर रज-कण,
वह संघ-शक्ति तुम दुर्निवार ! मेरे किशोर, मेरे कुमार !

हम न बनें 'अपने ही में रत' मुखरित वह विस्तृत सागर;
चिंतित कृषक, तृषित चातक, जव, वंचित मीन, भग्न-उर मोर,
जग के अगणित नयन ताकते अपलक सूने नभ की ओर,
अंबर से, हो द्रवित, उमड़ता सदय सजल जो श्यामल घन,
उसको जो चुपचाप सौंपता अपना नन्हा-सा जीवन,
वह गौरव लघु बिंदु बनें हम, हों जग-हित पर न्योछावर।

(३)

घन-गर्जन जिसकी जय-ध्वनि है, है साम्राज्य अखिल अंबर,
भय आतंक और विस्मय से स्वागत होता है घर-घर,
छिप जाती आकर्षित जग का पल भर जो करके उपहास,
जिसे न जग अनुभव कर पाता 'अपनी' कह कर अपने पास,
हम न बनें वह अस्थिर विद्युत्, हृदय-हीन सुख की मुसकान;
पल-पल तिल-तिल जल-जल भरता कुटिया में जो मधुर प्रकाश,
जलन छिपी जिसके अंतर में, अधरों पर अक्षय मृदु-हास,
जिसे देख भूले भटके को मिल जाता पथ का संधान,
बलिदानों की ध्यान न जिसको, मूक त्याग का जिसे न भान,
चलो बनें हम वह लघु दीपक, 'कुटिया में सीमित' अनजान।

मरणोन्मुख

सुख-दुख, हास-अश्रु के जग से ऊपर उठ, होकर अविकार,
मुझे पूर्णता के मधुवन में, कर लेने दो मुक्त विहार,
इस आनंद-उषा में जग का तम-प्रकाश छिप जाने दो,
जीवन के साधना-शिखर पर उत्सव आज मनाने दो,
आ पहुँचा आह्वान, शृंखला टूटी, साध मिटाने दो,
मेरी लघुता को 'विराट्' की महिमा में मिल जाने दो।

बिखरे भाव

गूँज उठी हैं दशों दिशाएँ, सप्त सिंधु, भूगोल, खगोल,
अब तो पलकें खोल 'पुरातन'! तू भी 'नूतन' की जय बोल।

विक्टोरिया कालेज लश्कर ग्वालियर में हुई। हाईस्कूल से आपको कविता करने का शौक लगा और कालेज में पहुंचते पहुंचते तो आप उसमें आठों पहर डूबे रहने लगे। इसी कारण आपको कालेज की शिक्षा से जल्द ही छुट्टी ले लेनी पड़ी।

आपकी कविता का जन्म वेदना से हुआ है। जब आप दो साल के थे आपकी माता का देहान्त हो गया। बचपन से ही आपको स्नेह और सहानुभूति की भूख ने परेशान रक्खा है। आपकी कविता का प्रारम्भ इसी अभाव का चीत्कार है।

आपकी पहली ही पुस्तक 'आँखों में' ने आपका हिन्दी के नवीन कवियों में अच्छा स्थान बना दिया। इसमें प्रेमपथ की अनुभूतियां सरल और मार्मिक ढंग से कही गई हैं। आपकी दूसरी काव्य पुस्तक है 'जादूगरनी' में 'माया' के विभिन्न रूपों का चित्रण है। इसमें उतनी सहानुभूति नहीं, जितनी कल्पना है। तीसरी पुस्तक 'स्वर्ण विहान' एक राष्ट्रीय पद्यनाटिका है, यह सरकार द्वारा ज़ब्त कर ली गई है। चौथी पुस्तक 'अनन्त के पथ पर' ने हिन्दी काव्य जगत् में अपना अलग स्थान बनाया है। इस में आत्मा का परमात्मा के पाने के प्रयत्न का रूपक है, अध्यात्म को हृदय की कोमल भावनाओं में एकरस कर दिया गया है। यह पुस्तक रहस्यवाद का सुन्दरतम उदाहरण है। आपकी फुटकर कविताएं भी प्रिय रही हैं। आजकल आपकी कविताओं की धारा बदल गई है, उनमें दलित, तृषित, भूखे पराजित और व्यथित हृदयों का विद्रोह प्रवाहित हो उठा है। 'अग्नि-गान' आप की इस प्रकार की कविताओं का संग्रह है।

आपकी कविता की विशेषता है गहरी अनुभूति, सरल वर्णन शैली और भाषा की स्वाभाविकता। आपके काव्य में कहीं भी प्रयास और बनावट के दर्शन न होंगे।

कवि होने के साथ आप उत्कृष्ट नाटक लेखक भी हैं। नाटकों मे आपने राष्ट्रीय एकता का वातावरण निर्माण करने का यत्न किया है। उनमें 'रक्षाबन्धन' 'पाताल-विजय' 'शिवा-साधना' 'प्रतिशोध' और 'स्वप्नभंग' का हिन्दी जगत् में

[illegible] हुआ है। '[illegible]' और '[illegible]' आपकी [illegible] रचनाएँ हैं।

वेदना

[illegible]—
[illegible]!

[illegible]।
[illegible]।

[illegible]।
[illegible]।

[illegible]।
[illegible]।

[illegible],
[illegible]।

जादूगरनी

ओ जादूगरनी [illegible],
[illegible] में तू किसने [illegible] है, बाले!
[illegible]।
[illegible],
[illegible]।
[illegible] में बन जाती, [illegible] में ही तूफान।
कभी [illegible] और [illegible], कभी कठिनता औ' अभिमान।
क्षण में फूल, शूल क्षण भर में, पल में पतझड़ या मधुमास,
करुणा, अश्रु, विकलता, पीड़ा, या आनन्द, मधुरिमा, हास।
कभी दिवस का कोलाहल बन [illegible] करती संग्राम,
कभी निशा की [illegible] बन शीतल करती है [illegible]।
कहीं, [illegible], छाया बन जाती, कहीं धूप [illegible] है,
अश्रु बहाती किसी जगत् में, कहीं मधुर मुसकाती है।

कृष्ण-पक्ष की निशि बन कर तू कभी अँधेरा छाती है।
कभी शरद् की पूनों बन कर ज्योत्स्ना-जाल बिछाती है।
कभी ग्रीष्म की दोपहरी बन उर में लपट लगाती है,
कभी घटा-सी घिर कर शीतल जीवन-धार बहाती है।
कभी सुधा का स्रोत, कभी विष, क्या-क्या रूप दिखाती है!
बुद्धि भूलती सुध अपनी, जब तुझे समझने आती है।
तू रहस्य है, इसी लिए तो, लगती है जग को प्यारी,
ऐ अनन्त की कली, जगत् की—तेरे बिना शून्य क्यारी!

उपेक्षित दीप

आज शिखा प्रज्वलित हुई है इस दीपक की अन्तिम बार,
मेरे चारों ओर बिदा का विस्तृत हुआ करुण संसार,
पूरी एक रात भी जल कर किया न कुटिया का शृंगार,
अब बुझता हूँ, किसी हृदय ने ढाली नहीं स्नेह की धार!
जग तो बिजली पर मरता है, जहा स्नेह का नहीं निशान;
मेरी इस छोटी-सी लौ का, यहाँ नहीं हो सकता मान।

अनंत के पथ पर

वह कितनी दूर कहाँ है, इसका क्या पता लगाऊँ?
केवल इच्छा है इतनी मैं उसमें ही मिल जाऊँ।
शत-शत पथ उस प्रियतम के यह जगती बतलाती है,
उन पर अबोध मति चल कर भ्रम-तम में खो जाती है।
वह कभी हृदय के भीतर ही गाने लगता गाने,
फिर भी यह हृदय भटकता है उसके दर्शन पाने।
वह क्या है इसका जग को अब तक कुछ ज्ञान नहीं है,
वह आकर फिर जाता है उसकी पहचान नहीं है।
वह रूप बना भिक्षुक का है भीख माँगने आता,
दे भेंट गालियों की जग है घर से उसे भगाता।

वह रूप कोढ़ियों का रख पथ पर है 'आहें' भरता,
पर जगत दम्भ के कारण उस ओर न आँखें करता।
मुझको भी धोखा देता है क्यों अमरों का स्वामी,
क्यों 'रूप' नहीं दिखलाता जीवन-धन, अन्तर्यामी
यह 'तरणी' भी बन्धन है, 'पतवार' भुलावा प्यारा,
इन लकड़ी के टुकड़ों से मिल सकता नहीं किनारा।
जप, तप, पूजन, व्रत, साधन दिखता सब अभिनय भ्रम का।
समझा न रूप प्रियतम का, कब पर्दा हटता तम का।
मैं किन आँखों से देखूँ अपनी आँखों का 'तारा'।
आलोकित मेरे उर का अब प्रिय करदे उजियारा।
क्यों अंधकार में केवल मैं गिनूँ गगन के तारे।
ये अस्थिर जगमग दीपक भ्रम की छाया हैं सारे।
'तरणी' को छोड़ यहीं पर मैं लहरूँगी लहरी बन।
नभ में बन पवन बहूँगी मैं तोड़ जगत के बन्धन।
यह एक 'बूँद' जब अपना 'अस्तित्व' मिटा डालेगी,
तब महासिन्धु में मिलकर लहरों में लहरावेगी।
जग जिसको दीप समझता वह केवल भ्रम की छाया,
ऐश्वर्य प्राप्त करने की धुन में अमरत्व गँवाया।

गीत

अविरत पथ पर चलना री। गति, जीवन का चरम लक्ष्य है;
विरति, मुक्ति सब छलना री। अविरत पथ पर चलना री।
'रण में सहसा मरण' महत है, पर क्या वह जीवन का 'सत' है?
जीवन तो बलि-पथ शाश्वत है—अणु-अणु करके गलना री।
अविरत पथ पर चलना री।

सरल, चिता-शय्या पर सोना; कठिन दुःख सहना—सब खोना,
मिट जाना, पर विकल न होना, तिल-तिल करके जलना री।
अविरत पथ पर चलना री।

हरिवंशराय 'बच्चन'

बच्चनजी का जन्म सं० १९६५ में इलाहाबाद में हुआ था। वे प्रारम्भिक स्कूल जीवन के दिनों में ही आर्यसमाज की भजन पुस्तकों को देख कर पद्य-निर्माण का प्रयत्न करने लगे थे। माता पिता ने उनकी इस प्रवृत्ति को पसन्द नहीं किया। उन्हें मालूम नहीं था कि उनका पुत्र एक दिन इसी दिशा में अपने कुल का नाम उज्ज्वल करेगा। कॉलेज-जीवन में 'बच्चन' जी ने कहानियाँ लिखने का प्रयास किया और इस दिशा में भी उन्हें अपने कॉलेज में अच्छी लोकप्रियता प्राप्त हुई। परन्तु इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम० ए० का छात्र रहते हुए उन्होंने 'उमर खय्याम की रुबाइयों' का जो हिन्दी अनुवाद किया उसका हिन्दी जगत् में और भी अच्छा स्वागत हुआ। इससे उनको अच्छा प्रोत्साहन मिला और उसी ढंग पर 'मधुशाला' 'मधुबाला' और 'मधुकलश' आदि उन्होंने बहुत सी मौलिक कविताएँ लिखीं। हिन्दी जनता ने इन कविताओं को बहुत अधिक पसन्द किया। बच्चन जी की शैली में जो सरलता, सरसता, खुलापन और चोट करने की शक्ति थी, दुःसह छायावाद से ऊबी हुई हिन्दी जनता ने उसका खूब स्वागत किया।

सं० १९९४ में बच्चन जी की धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। इस दुर्घटना से उन्हें जो चोट पहुँची उसके कारण उनकी रचनाएं भी गहरी वेदना से ओत-प्रोत हो गईं। 'निशा-निमन्त्रण' में उनकी इसी ढग की रचनाएं संगृहीत हैं। सब से ताज़ी रचना 'एकान्त सगीत' में उनकी प्रतिभा एक नई दिशा में विकसित हुई है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वेदना की ललकार को उन्होंने स्वीकार कर लिया है और उनमें परिस्थितियों से मुकाबला करने की भावना प्रबल हो उठी है।

बी० ए० तथा एम० ए० परीक्षाएँ पास कर लेने के बाद बच्चन जी आजकल 'डाक्टरेट' की तय्यारी में हैं। अंग्रेज़ी साहित्य के सम्बन्ध में उनका अध्ययन विशाल है और उसकी छाप उनकी रचनाओं पर भी देख पड़ती है, यद्यपि उनकी रचनाएँ एकदम मौलिक हैं। हिन्दी को बच्चन जी से बहुत बड़ी आशाएँ हैं।

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

हो जाय न पथ में रात कहीं,
मंज़िल भी तो है दूर कहीं—
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी-जल्दी चलता है !
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।
बच्चे प्रत्याशा में होंगे,
नीड़ों में झाँक रहे होंगे—
यह ध्यान परों में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है !
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।
मुझ से मिलने को कौन विकल ?
मैं होऊँ किस के हित चंचल ?
यह प्रश्न शिथिल करता पद को भरता उर में विह्वलता है !
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

आ, सोने से पहले गा लें !

जग में प्रात पुनः आएगा, सोया जाग नहीं पाएगा;
आँख मूँद लेने से पहले, आ, जो कुछ कहना कह डालें।
आ, सोने से पहले गा लें !
दिन में पथ पर था उजियाला, फैली थी किरणों की माला;
अब अँधियाला देश मिला है, आ, रागों का दीप जला लें।
आ, सोने से पहले गा लें !
काल-प्रहारों से उच्छृंखल, जीवन की लड़ियाँ विश्रृंखल,
इन्हें जोड़ने को, आ, अपने गीतों की हम गाँठ लगा लें।
आ सोने से पहले गा लें ?

अब मत मेरा निर्माण करो !

अब मत मेरा निर्माण करो।
तुमने न बना मुझको पाया,

युग युग बीते मैं घबराया;
भूलो मेरी विह्वलता को, निज लज्जा का तो ध्यान करो!
अब मत मेरा निर्माण करो!
इस चक्कर पर खाते चक्कर
मेरा तन-मन-जीवन जर्जर;
हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को और न अब हैरान करो!
अब मत मेरा निर्माण करो!
कहने की सीमा होती है,
सहने की सीमा होती है;
कुछ मेरे भी वश में, मेरा कुछ सोच समझ अपमान करो!
अब मत मेरा निर्माण करो!

कवि की निराशा

पूछता जग, है निराशा से भरा क्यों गान मेरा?

(१)

है चमकता जो सितारा वह प्रभा से हीन होगा,
बढ़ रहा जो चाँद नभ में एक दिन फिर क्षीण होगा;
क्षीण होगा पूर्ण फिर से, म्लान फिर द्युतिमान होगा,
भ्रांत इस आवर्त में ही विश्व-जीवन लीन होगा;
किस विजय पर ढोल पीटूँ, किस पराजय पर धुनूँ सिर?
रात-दिन-सा जड़ नियम से बद्ध पतनोत्थान मेरा।
पूछता जग, है निराशा से भरा क्यों गान मेरा?

(२)

खिल मृदुल-सुकुमार कलिका-पुष्प मुरझाने न पाए,
लहलहाते उपवनों में वायु पतझड़ की न आए,
कोकिला सकरुण स्वरों में मत विदा माँगे द्रुमों से,
हों न झूठे स्वप्न कवि के जो गये युगयुग सजाये—

यह न हो तो किन सुखों का गीत मुखरित कंठ से हो ?
विश्व पूरा कर सका है कौन-सा अरमान मेरा ?
पूछता जग, है निराशा से भरा क्यों गान मेरा ?

(३)

एक दिन मैंने लिया था काल से कुछ श्वास का ऋण,
आज भी उसको चुकाता, ले रहा वह क्रूर गिन गिन,
ब्याज में मुझ से उगाहा है हृदय का गान उसने,
किंतु होने में उऋण अब शेष केवल और दो दिन,
फिर पड़ूँगा तान चादर सर्वथा निश्चित होकर,
भूल कर जग ने किया किस-किस तरह अपमान मेरा !
पूछता जग, है निराशा से भरा क्यों गान मेरा ?

(४)

क्यों लगा रजकण सँजोने त्याग कुंदन का डला मैं ?
क्यों फिरा कंटक वनों में छोड़ पथ फूला-फला मैं ?
हास विद्युत का छिपा क्यों अश्रु-धारा में बरसता ?
था सुधा में जब निमज्जित क्यों गरल पीने चला मैं ?
बूझ दुनिया यह पहेली जान कुछ मुझको सकेगी,
हो चुकेगा किन्तु इसके पूर्व ही अवसान मेरा !
पूछता जग, है निराशा से भरा क्यों गान मेरा ?

जीवन-तरुवर

(१)

भावुकता की हरियाली में, हरे रहो, जीवन के तरुवर !
सरस कल्पना के सुमनों से भरे रहो जीवन के तरुवर !

(२)

गान विहंगों के शरणस्थल बने रहो जीवन के तरुवर !
रसिक पथिक पर छाया के हित घने रहो, जीवन के तरुवर !

(३)

विपदाओं की अंध वायु में तने रहो, जीवन के तरुवर?
अपने सौरभ की मस्ती में सने रहो, जीवन के तरुवर।

आत्म-परिचय

मैं जग-जीवन का भार लिए फिरता हूँ,
फिर भी जीवन में प्यार लिए फिरता हूँ,
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर,
मैं साँसों के दो तार लिए फिरता हूँ। १
मैं निज उर के उद्गार लिए फिरता हूँ,
मैं निज उर के उपहार लिए फिरता हूँ,
है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिए फिरता हूँ! २
मैं जला हृदय में अग्नि दहा करता हूँ,
सुख-दुख दोनों में मग्न रहा करता हूँ;
जग भवसागर तरने को नाव बनाए,
मैं मन-मौजों पर मस्त बहा करता हूँ। ३
मैं यौवन का उन्माद लिए फिरता हूँ,
उन्मादों में अवसाद लिए फिरता हूँ;
जो मुझको बाहर हँसा, रुलाती भीतर,
मैं, हाय, किसी की याद लिए फिरता हूँ! ४
कर यत्न मिटे सब, सत्य किसी ने जाना?
नादान वहीं है, हाय, जहाँ पर दाना!
फिर मूढ़ न क्या जग, जो इस पर भी सीखे
मैं सीख रहा हूँ, सीखा-ज्ञान भुलाना! ५
मैं और, और, जग और, कहाँ का नाता!
मैं बना-बना कितने जग रोज़ मिटाता!

जग जिस पृथ्वी पर जोड़ा करता वैभव,
मैं प्रतिपग से उस पृथ्वी को ठुकराता ! ६
मैं निज रोदन में राग लिए फिरता हूँ,
शीतल वाणी में आग लिए फिरता हूँ,
हों जिस पर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खंडहर का भाग लिए फिरता हूँ। ७
मैं रोया इसको तुम कहते हो गाना।
मैं फूट पड़ा, तुम कहते छंद बनाना।
क्यों कवि कह कर संसार मुझे अपनाए।
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना ! ८
मैं दीवानों का वेष लिए फिरता हूँ,
मैं मादकता निःशेष लिए फिरता हूँ,
जिसको सुनकर जग झूम, झुके, लहराए,
मैं मस्ती का संदेश लिए फिरता हूँ ! ९



शब्द-कोश

कबीर

पृष्ठ ३. साखी—ज्ञान और उपदेश से मिले दोहे। साँई—स्वामी, परमात्मा। पुहुपन—पुष्प। बास—सुगन्ध। घट—घड़ा, यहाँ शरीर से अभिप्राय है। पारस—एक पत्थर, जिसे छुआने से लोहा सोना हो जाता है। कंचन—सोना। रसायन—वृद्ध शरीर में यौवन का सा तेज लाने वाली औषधि। रंचक—थोड़ा। वैकुंठ—विष्णु का लोक। सत्त नाम—सदा सनातन रहने वाले ईश्वर का नाम।

पृ० ४. सूप—छाज। छीर—दूध। तत—तत्त्व, ईश्वर। निःकामी—कामना—इच्छा से हीन। चौगान—खेलने का मैदान। हाट—दूकान। अघट—न घटने वाला, पूर्ण। पिंजर—शरीर। गुरु—परमात्मा। साँकरी—तंग।

पृ० ५. अमल—मादक-नशीली वस्तु। जनि—मत। कुरँग—हिरन। कर—हाथ। रहँट—रहट, एक यन्त्र जिसके द्वारा कुंए से पानी निकलता है। उदर समाता—पेटभर, जितना पेट में समा सके। नख-सिख—पाँव के नाखून से शिखा-चोटी तक सारा शरीर। दुखभंजना—दुःख दूर करने वाला।

पृ० ६. अंतरजामी—भीतर की जानने वाला, सर्वज्ञ। समरथ—समर्थ, शक्तिमान। धुरही—अन्त तक, स्थिर पद पर। लँघना—भूखा। वनराय—बनराज, सिंह। मसि—सियाही। ठौर—स्थान। भेदी—परिचित। सूरा का दल—शूरवीरों की सेना।

पृ० ७. खेह—धूल। हिम—बरफ। कुम्भ—घड़ा। भँगार—घास फूस, कपट, पाप। उपाधि—दुख, चिन्ता। कित—कहाँ।

पृ० ८. बहुरि—फिर, दोबारा। नारी—स्त्री, नाड़ी। पौन—पवन, प्राण। तिरसूल—त्रिशूल, शूल-दुःख उत्पन्न करने वाला शस्त्र, काँटा। आपा—अभिमान। कलह—झगड़ा, शोर। मीच—मृत्यु।

पृ० ६. सोय—उत्पन्न होती है। चीर—वस्त्र। स्रवन—श्रवन, कान सालै—दुःख देती है। साहु—साधु, सज्जन। वाट—मार्ग, रास्ता। मीन—मछली म्यान—यहाँ शरीर से अभिप्राय है।

पृ० १०. सील—शुद्ध आचार-व्यवहार। अलख—अदृष्ट, अनदेखा जिसे देखा न जासके, ईश्वर। संजमी—संयमी। उत्पात—उपद्रव, ऊधम दंगा। भृगु—एक ऋषि का नाम। आप—परमात्मा। करगस—तीर। हाड—यहाँ शरीर से अभिप्राय है।

पृ० ११. गोधन—गाएं। वाजिधन—घोड़े। टूक—रोटी का टुकड़ा स्वान—कुत्ता। पैठि—घुस कर। वपुरा—बेचारा, नीच। लघुताई—छोटापन दुतिय—दूज तिथि।

पृ० १२. कीरी—चींटी। कुञ्जर—हाथी। सांचे—सच बोलने वाले को। पतीजई—विश्वास करता है। गोरस—दूध। गाडर की ठाट—भेड़ों की कतार। पीर—(१) गुरु फकीर (२) पीड़ा। वहियां—बाहु, बाजू। विरानी—दूसरों की।

पृ० १३. अघाय—इच्छा भर, पूर्णता से। धाय—दौड़ कर। अन्तर—भेद। सकत—शक्ति। घनी—बहुत, काफी। लाहे—लाभ। अजहुँ—आज तक, अब तक। तृषा—प्यास। अनहद—समाधि की अवस्था में ब्रह्मरंध्र के पास से निकलने वाला शब्द संगीत। संग—इन्द्रियों के विषयों की चर्चा। निसि—रात। सुरत—आदि ध्वनि, ध्यान। हरिजन—ईश्वर भक्त। मुक्ताहल—मोती। कै—अथवा, या। उदासी—सुख दुख में एकसा।

पृ० १४. निवेरा—निर्णय। बदन—मुख। अधर—होंठ। पूर—पूर्ण। ओर ते छेर लौं—एक ओर से दूसरी ओर तक। बट-मार—रास्ते में मार कर सामान छीन लेने वाला। चीकने—मीठी मीठी बातें करने वाले। घात—प्रहार, चोट, हत्या, बुराई। बकुलध्यानी—बगुला भक्त। सितलता—शीतलता, ठंडक। धूरधाना—धूली का ढेर। सुकृति—अच्छे काम। सुघर—सुन्दर, चतुर, निपुण। पय—दूध। नजूरे—ईश्वर। धूरमधूरे—चकनाचूर, धूलमट्टी। तँबूरे—यहाँ शरीर से अभिप्राय है। सोधि—शास्त्रों को पढ़ कर। आवागमन—

आना जाना, जीने-और मरने का चक्र। सरग—स्वर्ग। धौं—मालूम नहीं, अथवा।

पृ० १५. पद—मोक्ष, मुक्ति। पारधि—शिकारी,व्याध, हत्यारा। बलि—दैत्यों का एक राजा। आपु—यहाँ श्रीकृष्ण से अभिप्राय है। भानु—सूर्य। बीधी—भाग्य। महजिद—मस्जिद। पग—पैर। नेवर—नूपर, पायज़ेब। कतरनी—कैंची। नेव—नींव, बुनियाद। मनसूबा—इरादा।

पृ० १६. सतवन्ती—सती, पतिव्रता स्त्री। गजी—मोटा कपड़ा, गाढ़ा, खद्दर। खासा—सूती पतला कपड़ा। तुरक—मुसलमान। हटा—निषेध, मनाही। सेती—से, साथ। पारन—व्रत की समाप्ति। सगोती—गोत्री-बन्धु लोगों के साथ। भिस्त-वहिश्त-स्वर्ग। मेहर—दया। हिए—हृदय। गुदरी—फटे पुराने टुकड़ों के जोड़ से बना हुआ कपड़ा। नाहक—व्यर्थ, बेकाम।

पृष्ठ १७. धर्मराय—धर्मराज, यमराज। फेरा—दोबारा। मीन—मछली। अबिनासी—न नाश होने वाला, ईश्वर। चंदा—चन्द्रमा, यहां आत्मा से अभिप्राय है। ममता—मेरापन। स्यार—गीदड़। उकठा—सूखा। पिंड—श्राद्ध। बौराई—पागल।

पृ० १८. प्रतिबिंब—छाया-अक्स। दुभिधा—दोरंगी—सुख-दुख, राग-द्वेष। हेम—बरफ, पाला। पख त्यागे—पक्ष छोड़े। जती—यती इन्द्रियजित, संन्यासी। मुक्ता—मुक्त, दुःखों से छूटा हुआ। थापे—स्थापित करना। वृच्छा—वृक्ष। माया—प्रकृति, पाँच भूत आदि।

पृ० १९. खट दरसन—छः दर्शनशास्त्र। भेखा—स्वरूप। हमहिं अतीत—हमें छोड़कर। रूप नहीं रेखा—आकार और चिह्न नहीं है।

सूरदास

पृष्ठ २१. राई—राजा। पंगु—लंगड़ा। गिरि—पहाड़। मूक—गूंगा। रंक—दरिद्र, भिक्षुक, कंगाल। करुनामय—दयापूर्ण, दयालु। पाई—चरण। विख्यात—प्रसिद्ध। पावन—पवित्र करने वाला। पासगहुँ—एक छोटा सा भाग भी। अजमिल—एक पापी का नाम। जमनि—जमदूतों ने। हठि—ज़बरदस्ती से। तारो-ताला। छुद्र—क्षुद्र, नीच। रमापति—लक्ष्मीपति,

श्रीकृष्ण। जनि—मत, न। गारो—बड़ाई, अभिमान। विरद—यश, कीर्ति। विगरी—बिगड़ी अवस्था। सँभारी—सुधार दीजिए। सुधि—खबर, याद। तिय—स्त्री। तनत्वच—देह की चमड़ी, खाल। श्रवण—कान।

पृ० २२. पलित—सफेद। फल—चैन, आराम। विथा—व्यथा, पीड़ा, कष्ट। माधव—लक्ष्मीपति, कृष्ण। भव-अम्बुनिधि—संसार रूपी सागर। ग्राह-अनंग—कामदेव रूपी मगर। मोट—गठरी। अघ—पाप। पग—पैर। उरझि—उलझ कर। मोह-सिवार—मोह-अज्ञान रूपी जल की घास अथवा काई। चितवन—होश। वेहाल—बुरी दशा में। विह्वल—दुखी। गहि—पकड़ कर। कूल—किनारे। औगुन—अवगुण, बुराइयां। समदरसी—पापी और पुण्यात्मा सब को एक दृष्टि से देखने वाले। पनहिं—प्रण, प्रतिज्ञा। वधिक—व्याध, शिकारी। दुविधा—द्वैत, भेद-भाव। नार—नाला। सुरसरि—देव नदी, गंगा। अंतरजामी—हृदय की जानने वाले ईश्वर। करनी—अच्छे कर्म। आगन—पाप (सं० आगस्)। प्रपंच—कपट, ठगी। पोट—गठरी। दारा—स्त्री। हौं—मैं। वेगि—शीघ्र।

पृ० २३. टरिहौं—टलूँगा, पीछा छोड़ूँगा। कै—अथवा, या। भरोसो—विश्वास। चहो पीढ़िन—चार पीढ़ियों से। निस्तरिहौं—पार होऊँगा। कत—क्यों। परतीत—विश्वास। बीरा—लगा हुआ पान। भीजत—डूबते हुए। उवारो—बाहर निकालो, उद्धार करो। जन—भक्त, दास। घटा—आँधी। सलिता—नदी। मैन—कामदेव। कतहूँ—कहीं भी। ओट—आश्रय। नारो—नदी-नाला। उधारो—उद्धार, छुटकारा। तड़ित—बिजली। अह-निसि—रात-दिन। जारो—जलता है। कलिमलहि—कलि-पापों की मैल, दोष। सहस—सहस्र, हज़ार। अविगत गति—अव्यक्त, अप्रकट, ब्रह्म की बात। अन्तर्गत—हृदय में ही। अमित—बहुत से, अपार। तोष—संतोष, प्रसन्नता। अगम अगोचर—पहुँच से बाहर, इन्द्रियों से अतीत। जुगति—युक्ति, योग सम्बन्ध। निरालंब—सहारे के बिना। सगुन—सत्त्व-रज-तम प्रकृति के गुणों से पूर्ण, साकार। अनत—अन्यत्र और कहाँ। पुनि—फिर।

कमलनैन—कमल के समान आँखों वाला, श्रीकृष्ण। महातम—माहात्म्य, महिमा। दुर्मति—दुष्ट बुद्धि वाला, मूर्ख। कूप—कुआँ। खनावे—खोदता है। मधुकर—भंवरा। अंबुजरस—कमल फूलों का रस। कामधेनु—सम्पूर्ण इच्छित फल देने वाली गाएँ। छेरी—बकरी।

पृ० २४. भुजंग—सांप। कागहि—कौवे को। गंग—गंगा। खर—गधा। अरगजा—सुगंधित पदार्थ। मरकट—बानर। सरिता—नदी। बहुरि—फिर। खहि—धूल। छंग—उछंग, गोद (शरीर पर)। पाहन—पत्थर। रीतो—खाली। निषंग—तरकस। कारी कामरि—काला कंबल। हेत—हेतु, कारण। आपुन पौ—अपनापन। सेत—सफेद। रूँध्यों—रुक गया। बैन—वचन। चँद्रा—आँख की पुतली। लगी संकेत—उलटने लगी। गंगोदक—गंगाजल। गाड़े प्रेत—मरे हुए। किन—क्यों नहीं। पात—पत्ते। वेगि—शीघ्र। खैहै—खायेगा। ताल—गर्व से भरे शब्द। जस-अपजस—यश और अपयश। दुरलभ देवन को—देवताओं के लिये दुर्लभ। कुशलात—कुशल से, भला-चंगा। कमला चपला—चंचल लक्ष्मी। मग—रास्ता। बिलखात—तड़पते हैं। इतरात—अभिमान करता है।

पृ० २५ तरुनापन—यौवन, जवानी। औसर—अवसर, मौका। पालने—झूला। हलरावे—हिलाती है। मल्हावै—पुचकारती है। निंदरिया—निद्रा। सैन—इशारा। इहि अन्तर—इतने में। जसुमति—यशोदा। अमर—देवता। नंद-भामिनी—यशोदा। बृंद—समूह। तमचुर—ताम्रचूड़, मुर्गा। खग रौर—पक्षियों का शोर। बनराई—वनराज पशु-पक्षी। राँभति—ऊँचा शब्द करती है। खरिकन—गोशाला। विधु—चन्द्रमा। रवि—सूर्य। कनक-आँगन—स्वर्ण से जड़ा हुआ आँगन। कुलहि—टोपी, कलगी। लसति—शोभा पाती है। सुभग—सुन्दर। सुरंग—सुन्दर रंग। घन—बादल। मघवा—इन्द्र। सुदेस—सुन्दर स्थान। चिकुर—केश, बाल। मृदु—कोमल। बगराई—फैले हुए। कंज—कमल। मंजुल—सुन्दर। अलि-अवली—भँवरों की कतार। लुनाई—सुन्दरता। सनि—से। गुरु-असुर—

दैत्यों के गुरु शुक्र, सफेद रंग। देव गुरु—देवताओं के गुरु वृहस्पति, पीत रंग। भौम—मंगल, लाल रंग। समुदाई—समूह, सब। दूध-दंत-दुति—दूध के दाँतों की शोभा। उपमाई—सुन्दरता। दुरत—छिप जाते हैं। विज्जु—बिजली। खंडित वचन—अस्पष्ट टूटे हुए वचन, तोतली बातें। अलप-अलप जलपाई—थोड़ा-थोड़ा बोलना। रेनु—धूल। धरि पाये—पकड़ लिये गए। निशि वासर—रात-दिन।

पृ० २६. अचगरी—ज्यादती। चीन्ही—पहिचान लिया। नेकु—थोड़ा। मुखतन—मुँह की तरफ। रिस—क्रोध। गई बुझाई—शांत हो गई। ख्याल परे—दिल्लगी करने की इच्छा से। सीके—छिक्का। भाजन—पात्र, बर्तन। निरखि—देखकर। नन्हे कर—नन्हे से हाथ। दौना—पत्तों का दोना। दुरायो—छिपा लिया। साँटि—छड़ी। बाल-विनोद-मोद—बाल-लीला का आनन्द। विरंचि—ब्रह्मा। रैंगत—घूमना। घाम—गरमी, धूप। टेक—हठ। दाऊ—बलदेव। जायो—उत्पन्न किया।

पृ० २७. सिखै—शिक्षा। खीझै—डांटती। चवाई—चालाक। धूत—कपटी। गुसैयां—स्वामी, बड़ा। श्रीदामा—सुदामा। बरबसही—ज़बरदस्ती से। रिसैयां—क्रोध, गुस्सा। छैयां—छत्रछाया, आश्रय। रूहठि—बेईमानी। खैयां—सखा, साथी। नंद-दुहैयां—नंद की दुहाई। खिसाना—शर्माना, क्रुद्ध होना। ललकि—इच्छा से। हलधर—बलराम। पठाई—भेजा। टेरत—पुकारते बार—देर। बिलम—देरी। अँचयौ—खाया। सुरभी—गाए। बूझै—पूछता है। चारों—दो देखने के और दो ज्ञान के नेत्र। तनु—शरीर। फूँक—फूँक दिया, जला दिया।

पृ० २८ द्वै टूक—दो टुकड़े होकर। घिग—धिक्कार है। बिछुरन—बिछोह, वियोग। जोवति—देखती हैं। पावस—वर्षा ऋतु। विदमान—विद्यमान, मौजूद। हुतो—था। अवराधै—आराधना, उपासना करे। ईस—निर्गुण ईश्वर। स्वासा—सांस, प्राण। बरीस—वर्ष। जोग के ईस—योग के स्वामी। [illegible]—[illegible]। [illegible]—[illegible] करो। विष कीरा—विष का कीड़ा। अघात—

तृप्त होना। कोरि--खोद कर। सुद... ...
रूप देखने के रस में डूबी हुई। बतियां--बातें
भूखी--खीझी, पछताई। वारक--एकवार।
दोना।

पृ० २६. विहंगम--पक्षी। भीत--डरा हुआ
दुबला। बसन--वस्त्र। कृस गात--दुबली। ...
कृष्ण का नाम। ठाँव--स्थान। काढि ढारी है
मध्यतें--पानी के बीच में से। पनारे--परनाले,
शोभित--मालूम होते हैं। काहूँ--किसी ने भी।
कमल। संपुट--डोडी (कमल की)। सारँग--मृग,
राग। ठाढ़े--खड़े।

पृ० ३०. निलज--लज्जा से हीन। पुहुप--
स्यार--गीदड़। उकठ--सूखा। बिखान
समय समय पर। जिनि--न, मत। कछुक--कोई भी
कलेऊ--कलेवा, प्रातःकाल का जलपान। धैया--...
मुफ से। जायो--पुत्र। निठुर--निष्ठुर, कठोर।
फिर। सौंध--खबर। हंस-सुता--सूर्य की बेटी,
घाट की भूमि। कुंजन--वृक्ष-लतायुत बाग। दोहिनी
दुहा जाता है। खरिक--गोशाला। कुलाहल--शोर
...कड़ कर। मुकताहल--मोती। सुरति--याद।
...नगन भाँति--अनगिनत, बहुत प्रकार से।
पियादे धायौ--पैदल दौड़ता हूँ। पीर--दुख, कष्ट।

मीरा

पृष्ठ ३२. नरहरि--नरसिंह (ईश्वर का एक रूप)।
...कश्यपु। बूड़ते--डूबते। म्हाँरी--मेरी। अरजी--
...थारी--तुम्हारी। सगो--सबन्धी। गरजी--...

किनी

…त्यों के गुरु शुक … धाओ—दौड़ो। मन कुचाल—मन की खोटी चाल।
भौम—मंगल, … । सदान—मदना एक कसाई भक्त।
दाँतों की शोभा। … भाखत—कहते हैं। रावरी—तुम्हारी। स्थावर—वृक्ष लता
खंडित वचन— … जंगम—मनुष्य, पशु पक्षी आदि। वारे—अन्त में। अजर—जरा-
थोड़ा-थोड़ा बोलना … त। अमर—मृत्यु से रहित। वंदी—दासी। संसा—संशय।
रात-दिन। … ना, शोक। अष्ट करम—यम नियम आदि योग के आठ भेद।

पृ० २६. अ… ा, कामना। नागर—चतुर। अपरबल—बलवान्। निरधारौं—
मुखतन—मुँह की … हेत।
ख्याल परे—दिल … गच्छ समाज—मुक्ति रूपी सामग्री। पेज—लाज। मंभार—
वर्तन। निरखि— … —मत, न। कूग—कौन। हीया—हृदय। वेरि वेरि—बार बार।
होना। दुरायो— … । विकार—पाप, बुराई। पालि—बाध, मर्यादा। वेरी—नाव
लीला का आनन्द। … —पति। बाट—रास्ता। जोवें—खोज, ढूंढे। नेरी—समीप
टेक—हठ। दाऊ- … । मकर—मगरमच्छ। टोना—जादू। खंजन—एक चचल पक्षी

पृ० २७. सि… । सुग्रीव—सुन्दर गरदन। विशेषा—सुन्द…
कपटी। गुसैयां— … -मृग का बच्चा। चपला—बिजली।
से। रिसैयां—क्रोध … । दाडिम—अनार। भीवे—अच्छा लगना। रैण
रवैयां—सखा, साथी … आवडे—बीतती। धान—अन्न। की—अथवा। कमठ—कछु…
होना। ललकि—इ… —रास्ता। जोय—ढूंढ कर। रमैथो—र…
बार—देर। विलस… । आली—सखी।
है। चारों—दो देख… पात—पत्ता। काठ—लकड़ी सा कठोर। कौल-
दिया, जला दिया। कर, ढूँढ़ कर। बजंता—बजा कर। कारो—काला।
खेवटिया—खेवैया, नावक।

पृ० २८ है दूव… । छोई—तुच्छ, छाछ। परस—स्पर्श कर, छू कर। त्रिवि…
वियोग। जोवति— … प्रकार के ताप, आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक
मौजूद। हुतो—य… । श्रीभरण—शोभा-युक्त। घरणा—स्त्री। कालीहि—कालि…
ईश्वर। स्वासा—सा… । पुरवैया—इन्द्र। अगम—दुर्लंघनीय, संसार। तरन—नाव। अवि…
…निक—प्रेमी। … से हीन, अखण्ड, पूर्ण। जेतइ—जितना कुछ। धरन ग…

—पृथिवी आकाश में । उठ जासी—उठ जायगा, नाश हो जायेगा। करवत—करवट, वास। गरव—गर्व, गरूर, अभिमान। च्हह—रौनक, शोर गुल। भगवा—भगवे वस्त्र, जोगिये वस्त्र । जुगुति—युक्ति, योग-आत्मप्राप्ति का साधन । अबला—बल से हीन, स्त्री । जम की फाँसी—यम के बंधन। सीस—सिर ।

पृ० ३८ रंग—प्रेम। खत—लकीर, दाग़, पाप। नटै—भागे, इन्कार करे। तनयन—पुत्र । कुश—को, से। जंजार—जजाल, दुख। कत—कितना। तार—उपाय। कूकर—कुत्ता। मोहि—मोह,ममता। बिलार—बिल्ली। घट—देह, शरीर। छुधारत—भूख से पीड़ित। टीला—शिखर। मनिया—मनका, माला के मनके।

पृ० ३९. हितु—हितैषी, प्रेमी। सागर—सम्पूर्ण। विषम—कठोर। ओखी—कठिन। वेड़ा—नाव, किश्ती। ज्ञान चोसर—ज्ञानरूप चौसर। चोहटे—चौक। सुरत—स्मरण, ध्यान। करमगति—भाग्य, तकदीर। सत-बादी—सच बोलने वाला। जग्य—यज्ञ। बलि—असुरों का राजा।

तुलसीदास

पृ० ४१. समुदाई—समूह ।

पृ० ४२. नेह—स्नेह, प्रेम। तियहि—स्त्री के लिए। तरनि—सूर्य। धाम—घर। सुरराज—देवताओं का राज्य, स्वर्ग। समाज— सामग्री, समान। भारू—बोझा। कतहुं—कहीं भी। जिय—जी, प्राण। बारी—जल। पुरुष—पति। सरद बिमल बिधु बदनु—शरत् काल के निर्मल चन्द्र की भाति मुख को। बलकल—वृक्षों की छाल। दुकूल—वस्त्र। सुरसदन—स्वर्ग। परनसाल—पत्तों की कुटिया। कुश-किसलय—कुशा और पत्ते। साथरी—चटाई, बिछौना मंजु—सुन्दर। मनोज तुराइ—कामदेव का बिछौना। अमिय—अमृत। सौध—प्रासाद, महल। सरिस—सदृश, समान। कोकी—चकवी। सुजान—बुद्धिमान। उर—हृदय। अवधि लगि—१४ वर्ष की मियाद तक। छारी—थकावट। चरनसरोज—चरण रूपी कमल। पाय— पैर। पखारि—धोकर। तरु-छाहीं—वृक्ष की छाया में। बाउ—हवा। —थकावट से उत्पन्न

पसीने की बूंदें । पेखें—देखने से । महि—पृथ्वी । डासी—बिछा कर । पलो-टिहि—मुट्ठी चापी करूँगी । जोही—देख कर । बयारि—वायु । चितवनि-हारा—देखने वाला । सिंघवधु—सिंह की स्त्री । ससक सिआरा—खर और गीदड़ ।

पृ० ४३. मो कहं—मेरे लिए । विलगान—फटे । पाँवर—पामर, नीः धाई—दौड़ी मुरुछित—बेहोश, अचेत । अवनि—पृथिवी । भाई—छा अन्धेरा, आँखों के सामने अंधेरा छाना । विकल—व्याकुल, दुखी । तनद बिसारी—देह की सुध बुध भुला दी । कत—क्यों । मांझा—बीच में । जौं-यदि । मोही—मुझको । कुलकलंकु—कुल के लिए कलंकस्वरूप । भाजन-पात्र, योग्य । सरिस—सदृश, समान । सुरपुर—स्वर्ग, देवस्थान । केतु—पताव श्रेष्ठ । अनरथ—अनर्थ, बिगाड़ । हेतु—कारण । बेनु—बास । दुसह-दाह-असहनीय जलन, ताप क्लेश । मोचति—दूर करने लगी । सुभाय—स्वभाव अतिहित—अत्यन्त प्यारा । फिरि—लौट कर । बहुरि—फिर । लषन-लः भाई—शत्रुघ्न । सोकु—शोक । सनेहु—प्रेम । बच्छु—(सं०) वत्स, प्रिय परिहरहू—दूर करो । हानि—हीनता, दुःख । अघटित—जो कभी घटे नहीं पूरी, अक्षय । काहुहि—किसी को । भा—हुआ । सब बिधि—सब तरह से । वाम—उलटा, दुःखदाई । एतेहु—इतने । आयुस—आज्ञा । बसन—वस्त्र । बिसमउ—विषाद, दुःख । चीर—वृक्षों की छाल के वस्त्र । रंग—रंक, थोड़ा भी । रोषू—क्रोध । परितोष—संतोष, प्रसन्नता । बिपिन—वन, जंगल ।

पृ० ४४. गइऊँ—मैं गई । पठाये—भेजे । सत-कुलिश—सौ वज्र रनिवास—अंतःपुर, स्त्रियों का निवास स्थान । पानी—हाथ । अघ—पाप । गाइगोठ—गोशाला । महिसुर—ब्राह्मणों । मीत—मित्र । माहुर—विष, ज़हर पातक-उपपातक—छोटे बड़े पाप । गति—अवस्था, योनि, जन्म । पिसुन—चुगुलखोर, ओट में निन्दा करने वाला । बेद-बिदूषक—वेद-निन्दक । परदारा—दूसरे की स्त्री । श्रुतिपंथ—वेदों का मार्ग, ज्ञान मार्ग । वाम-पथ—पाप मार्ग । बेषु—भेष, बाना ।

पृष्ठ ४५. हिमु--बर्फ। वारिन्दर--मेघ, बादल। वारिविरागी--जल से रहित, जल से खाली। वरु--भले ही। सुगति--सुन्दर गति, अच्छी अवस्था। थनपय--स्तनों से दूध। भावी--होनहार, भाग्य। विलखि--रोकर। विधि--विधाता, ब्रह्मा, भाग्य। केहि--किस को। सोचुजोगु--शोक-चिन्ता करने के योग्य। विप्र--ब्राह्मण। बैयसु--वैश्य। सुजान--ज्ञानवान्। विप्र-अवमानी--ब्राह्मण का तिरस्कार करन वाला। मुखरु--वाचाल, बहुत बोलने वाला। ग्यान गुमानी--ज्ञान का अभिमान रखने वाला। पतिवंचक--पति से धोखा करने वाली। कलह-प्रिय--झगड़ालू। इच्छाचारी--इच्छा के अनुसार, अपनी मरज़ी से चलने वाली। बटु--ब्रह्मचारी। आयसु--आज्ञा। गृही--गृहस्थी। पथ--मार्ग। प्रपंचरत--कपटी। विगत विवेक विरागू--ज्ञान और वैराग्य से हीन। बैषानस--तपस्वी। बिहाई--छोड़ कर। भोगू--संसारी भोग-पदार्थ। पिसुन चुगुलखोर। पर-अपकारी--दूसरे के साथ बुराई करने वाला। कोसलराऊ--कोसल देश के राजा, दशरथ। भुवन चारि दस--चौदह लोक। न अहै--नहीं होता है। होनिहारा--होने वाला। जस--जैसा।

पृष्ठ ४६. विधि--ब्रह्मा। हर--महादेव, शिव। सुरपति--इन्द्र। दिसिनाथ--दिशाओं के स्वामी। सुअन--पुत्र। सुचि--पवित्र, सदाचारी। बड़भागी--बड़े भाग्य वाला। बादि--व्यर्थ, फ़िज़ूल। विषादु--चिन्ता। तेहि लागी--उसके लिये। परिहरहु--दूर करो। रजायसु--आज्ञा। फुर--सफल, पूर्ण। विरहागी--विरह-वियोग की आग। प्रवाना--प्रमाण, प्रतिष्ठित। भूप-रजाई--राजा की आज्ञा। अग्यां--आज्ञा। साखी--साक्षी, गवाह। जजातिहि--ययाति राजा को। अघ--पाप। बयन--वचन। भाजन--पात्र, योग्य। अमरपति-अयन--इन्द्र का स्थान, स्वर्ग। अवसि--अवश्य। परितोषू--प्रसन्नता, सन्तोष। सुकृतु--पुण्य। विदित --प्रसिद्ध। संमत--अनुकूल विचार। गलानी--घृणा, दुःख। बैदेही--सीता, विदेह-राज जनक की पुत्री। सुहाएँ--शोभा दें। पथ्य--हितकारी, सुखदायक। कालगति--भाग्य का फेर, दैव-योग।

पृ० ४७. नरनाहू--राजा। कदराहू--कातर, दुःखी। परिजन--परिवार

के लोग। सचिव--मन्त्री। अवलंबा--सहारा, आश्रय। अनुसरहू--पीछे चलो। अभिनन्दनु--प्रशंसा। जनु--जैसे। बहोरि--फिर। रससानी--रस से भरी, मधुर। लोचन सरोरुह--आँख रूपी कमल। सींव--सीमा, हद। धीर-धुरंधर--धैर्यशाली पुरुषों में श्रेष्ठ। अमिय--अमृत। नीका--भला, अच्छा। मुदित--प्रसन्न। पातक भारू--भारी पाप। सिख--शिक्षा, उपदेश। हौं--मैं। परितोषु-संतोष। अनुहरत--देख कर। सिखावन--शिक्षा। छमब--क्षमाकरो। कै--अथवा, या। हरि लीन्हि--छीन ली। कुटिलाई--कुटिलता। आन--अन्य, और। केहि लेखे--किस हिसाब में। बसन--वस्त्र। बिरति--वैराग्य।

पृ० ४८. सरुज--रोग सहित। जप जोगा--मन्त्र-पाठ और योग। पहिं--पास, समीप। आँक--पक्ष, भाग। जड़ता--विवेक-शून्यता। गत लाज--निर्लज्ज। पतियाहू--विश्वास करो। हठि--हठ से, जिद करके। रसा--पृथ्वी। रसातल--पाताल। जेहि लगि--जिसके लिये। गमनु--गमन, जाना। अमरपुर--स्वर्ग। सठ--शठ, नीच, धूर्त, ढीठ। सचेतू--स्वस्थ, होश में। बासू--निवास-स्थान, घर। उपहासू--हंसी, निन्दा। पुनीत--पवित्र। विषयरस रूखे--संसारी विषयों से दूर, निर्लेप, अनासक्त। लोलप--लोभी। निदरि--तिरस्कृत कर, मात कर। कुलिसु--वज्र। कारजु--कार्य। दोसु--दोष, बुराई। कुलिस-अस्थि तें--वज्र दधीचि की हड्डी से तैयार किया गया है किन्तु कठोरता में हड्डियों से बढ़ गया है। उपल--पत्थर। कैकेयीभव--कैकेयी से उत्पन्न, भरत। पावन--पवित्र। अघाइ-- अघाकर, जी भरकर। पठै--भेजा। काह--क्या। जठर--उदर, पेट। पांच--पंच, पंचायत। ग्रहग्रहीत--ग्रहों से पीड़ित। बात-बस--वात रोग का रोगी। बीछीमार--बिच्छू का काटा। बारुनी--मदिरा, शराब। कवन--क्या कौन सा। उपचार--उपाय, दवा, दारू।

पृ० ४६. बिरँचि--ब्रह्मा, विधाता। नीका--अच्छी। सुखेन--आराम से, निश्चिन्त होकर। जथारुचि--जैसा कुछ जी में आए। सचराचर--जड़

और चेतन-सहित जगत् । लाहू—लाभ । अदिन—कुदिन, दुर्भाग्य । विसेखि—विशेष, अधिक । सुभाय—स्वभाव । बिस्व—विश्व, जगत् । बदर—बेर । परिहरि—छोड़ कर, त्याग कर । पोचू—नीच । दवारी—आग । जरनि—जलन, ताप । बूझा—बूझने वाला, समझने वाला । आंक—बात । पाही—पास । अनभल—बुरा, पापी । उपाधी—बखेड़ा । सरन—शरण, आश्रय । सकुचि—सकोच । सुठि—सुष्ठु, सुन्दर । अरिहुक—शत्रु का भी । सिसु-सेवक—छोटा सेवक । वामा—विपरीत, उल्टा ।

पृ० ५० आसिष—आशिष, आशीर्वाद । जनु—जन, दास । रिष-वधू—ऋषि-पत्नी अनसूया । ब्याज—बहाने से । अमित—माप-तोल से बाहर, बहुत । दानि—दानी, दानशील । आपद्-काल—दुःख के समय । परिखियहि—परीक्षा किये जाते हैं । बधिर—सुनने की शक्ति से हीन, बहिरा । यमपुर—नरक । नेमा—नियम । भव—संसार । आन—अन्य, और । निकृष्ट—नीच, धिक्कारने योग्य । रति—प्रेम । रौरव—भयानक । कल्पसत—सैंकड़ों युगों तक । लागि—लिये । परम गति—उत्तम गति, मुक्ति । तरुणाई—यौवन, जवानी । सहज—स्वभाव । श्रुति—वेद ।

पृ० ५१. अगस्त्य—एक तारा का नाम जिसके उदय होने पर वर्षा समाप्त हो जाती है । सरितसर—नदी, तालाब । जिमि—जैसे । सुकृति—पुण्य कर्म, भले काम । अबुध—मूर्ख । परिहरि—त्याग कर । सारदी—शरत्काल की । आश्रम चारी—चारों आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । अगाधी—अगाध, अथाह, गंभीर । मधुकर-निकर—भौंरों का समूह । अनूपा—अनुपम, सुन्दर । खगरव—पक्षियों का शोर । चक्रवाक—चकवा-चकवी । निसि—रात्रि । पेखी—देख । अति-ओही—अत्यन्त दुखी । सरदा-तप—शरद ऋतु की धूप । इन्दु—चन्द्रमा । मसक—मच्छर । दंस—डंगा । त्रासा—भय । द्विज द्रोह—ब्राह्मणों के साथ ठगी । संकुल—इकट्ठे, समूह । मति-अनुरूप—बुद्धि के अनुसार ।

पृ० ५२. तिष्ठै नहीं—ठहर नहीं सकता, जी नहीं सकता। नागर नर—चतुर पुरुष। अलप—थोड़ा। भुवनेश्वर—त्रिलोकी के ईश्वर। कालहुं कर काला—काल के भी काल। अनामय—दुःख रोग आदि से रहित। अज—जन्म से रहित। अजित—जिन्हें कोई जीत नहीं सकता। व्यापक—सब जगह मौजूद। गो—पृथिवी। द्विज—ब्राह्मण। जनरंजन—भक्तप्रिय, भक्तों को प्रसन्न करने वाले। भंजन खल ब्राता—दुष्टों का नाश करने वाले। वयरु—वैर, शत्रुता। नाइअ—झुकाइये। प्रनतारति भंजन—शरण में आये हुए के दुःखों को नाश करने वाला। बिन हेतु—निष्काम रूप मे किसी फल की चाह-के बिना। कोशलाधीश—भगवान् राम। पठई—पढ़ाई। रिपु उतकरप—शत्रु की बड़ाई। पुनि—फिर। निगम—वेद। नाना—अनेक। रिपु—शत्रु। निसिचर—राक्षस। दुलार—प्रेम, स्नेह।

पृ० ५३. बुध—बुद्धिमान्, विद्वान्। रिसाई—क्रोध में आकर। मोर जियावा—मुझसे जिलाए जाने पर। पच्छ—पक्ष, तरफदारी। भावा—अच्छा लगता है। तपसिन्ह—तपस्वी। प्रहार—चोट। गहे—पकड़ लिए। उमा—पार्वती जी का नाम (सम्बोधन) भगवान शिव पार्वती जी को यह कथा सुना रहे हैं। मंद—बुराई, अपकार। निहारी—देखा। मनुज अनुहारी—मनुष्य का अनुकरण करके। कपि—वानर, महावीर, हनुमान्। अनुज—छोटा भाई, लक्ष्मण। काऊ—क्यों। बिपिन—वन, जंगल। आतपबाता—गरमी और आंधी। जनत्या—जानता। बंधु-बिछोहू—भाई का वियोग। आहू—है। खग—पक्षी। फनि—सांप। करि—हाथी। कवन मुंह—किस मुंह से। छति—क्षति। अपलोकु—अपवाद, निन्दा। गहि पानी—हाथ पकड़ कर। किन—क्यों न। राजिव दल—कमल पत्र। अखंड—पूर्ण।

पृ० ५४. निकर—समूह। जिमि—जैसे। बाम—बायां। उछाहु—आनन्द। मुनि मन अगम—जो आनन्द मुनियों के मन में भी नहीं आ सकता। पुलकावली—पुलकित। पुनीत वारि—पवित्र जल। पुरारि—राक्षस-गढ़ के विनाशक भगवान् शिव। त्रिपथ-गामिनी—गंगा, आकाश पृथ्वी और पाताल

तीनों लोकों में इसकी गति है। जोगीन्द्र--श्रेष्ठ योगी। पठावनी--पार ले जाने की मजूरी। तृनपनसाल--घास फूल की कुटिया। मंजुल--सुन्दर। विप्र--ब्राह्मण। कल्पबेलि--कल्पलता, कल्पवृक्ष। सकेलि--उल्लास के साथ। एहैं--आए हैं। जिय--हृदय। लहि--प्राप्त करके। लाहु--लाभ। अघाई--प्रसन्न होकर। अमियहु--अमृत से। अवलोकत अनुकूल--देखने में आंखों को सुन्दर लगने वाले। अम्ब--माता। डिंभ--छोटा बालक, बच्चा। सानिकै--भरा हुआ। प्रेमपन--प्रेम की प्रतिज्ञा।

पृ० ५५. विधि--विधाता (सम्बोधन)। कैधों--अथवा, या। सति भाउ--सच्ची बात। अघहरन--पाप को दूर करने वाले। लघु भाग-भाजन--भाग्य के छोटे पात्र में। उदधि--समुद्र। उमग्यो--उमगा, उमड़ आया। सानुज--छोटे भाई के साथ। भाय--प्रेम। पाँवडे--पाँव झाड़ने का वस्त्र, पायंदाज़। सुअरघ--हाथ धोने का सुन्दर जल। पंकज पाँय--चरण कमल। पखारि--धोकर। पथस्रम--रास्ते की थकावट। आदर जनुजये--मानों आदर से जीत गये। सुमन--फूल। सुर--देवता। सिहात--रोमाञ्चित होने लगे। केहि रुचि--किस फल की रुचि है। भोगी जाग के--यज्ञ भाग के अधिकारी। अमल--निर्मल। अनुराग--निर्मल प्रेम। अँचइ--आचमन। पूरई--पूरा हुआ। तापस--निस्सहाय, बेचारा। किरातिनि--भीलनी। कोल--भील। आयसु--आज्ञा। परमनिधि पाले परी--बड़ा भारी खज़ाना मिल गया। प्रदच्छिना--प्रदक्षिणा, परिक्रमा।

पृ० ५६. रामधाम--बैकुण्ठ धाम। जल अंजलि--जलांजलि, तर्पण करना। प्रनति--नियम, भक्ति। अनसासन--अनुशासन, आज्ञा। चैल--वस्त्र। आनि--लाकर। व्यालावलि--सांपों की पंक्ति। महि--पृथिवी। विबुध वैद--देवताओं के वैद्य, अश्विनीकुमार। बरबस--बलपूर्वक, ज़बरदस्ती। अनुग--अनुगामी, सेवक। मीच--मौत। मूषक--चूहा। नेकु--ज़रा भी। लोहे--शस्त्र। सुभट--सुयोधा, सुवीर। सुवन--पुत्र। हुलसत--आनन्दित, प्रसन्न। सुभाय--स्वभाव, सदृश। अंब के अंबक--आम के सदृश नेत्र।

अंबु---जल। रिपुसूदन---शत्रुओं का नाश करने वाले, शत्रुघ्न। प्रमुदित--
प्रसन्न। लीन-विषय---विषयों में आसक्त।

पृ० ५७. हेतु रहित---कामना रहित, निःस्वार्थ, निष्काम। वेनु--बांस।
करील--ऊंटे का वृक्ष। श्रीखण्ड---कपूर। मृषा--झूठमूठ, व्यर्थ। सुरभि--
गाय। मोह शृंखला---मोह की रस्सी, अज्ञान का बन्धन। छुटिहि तुम्हारे
छोरे---तुम्हारे छुड़ाने से ही छूटेंगे। अनुग्रह---कृपा। साधन-धाम---धर्म की
साधना के आधार। विबुध---देवता। विष वारि---पदार्थों की वासना रूपी
जल। दारुन---कठोर। वंसी-पद-अंकुस---बांसुरी का शब्द रूपी कोड़ा।
प्रेम-मृदु-चारो---प्रेम रूपी कोमल चारा, घास आदि भोजन। बिधि वेधि--
इस तरह से वेध कर---नाथ कर। कौतुक---तमाशा, खेल। स्रुति--श्रुति, वेद।
निहोरें---अनुरोध प्रार्थना करें। मोह-रजु---मोह रूपी रस्सी, अज्ञान रूपी
वन्धन। जोइ बाँध्यो सोइ छोरे---जिसने बाँधा है वही छोड़े। पुरुषारथ--
जीवन का ध्येय, परम उद्देश्य। थाको---समाप्त हुआ। विपति-बँटावन---दुःख
में भाग लेने वाले, सहायक। समर---युद्ध। साखामृग---वानर, बन्दर।
अनुज-सँघाती---छोटे भाई का घातक। जीह-देहरी---जिह्वा रूपी देहलीज।

पृ० ५८. उजियार---उजाला, प्रकाश। आस---आशा। बारिद---बादल
गहि---पकड़ कर। निरस---रस-प्रेम से हीन। रूखे विषय रस---विषय रस
से निर्लिप्त। चिकने राम-स्नेह---राम के स्नेह---प्रेम में भीगे हुए। ठौर--
स्थान, आश्रम। विंध---विन्ध्याचल। सायर---समुद्र। उपास---उपवास,
फाका। विपच्छ---विपक्षी, विरोधी। अनुभव---ज्ञान। समता---समभाव, प्रेम।
दूबरी---दुबली, कमज़ोर। पीन---मोटा, पुष्ट। ऋनिया---ऋणी, उधार खाए
हुए। राम पद---भगवान् राम के चरणों की सेवा। द्रवहिं न---पिघलते
नहीं, दयार्द्र नहीं होते।

पृ० ५९. सूधी---सरल, सीधा। करतूति---काम। विधि---नियम, व्यवहार।
राकेस---रात्रि का स्वामी, चन्द्रमा। सरिस---सरस, मधुर। कुमुद---लाल फूल,
चन्द्रमा के उदय होने पर खिल उठता है। सूर---शूरवीर। कोविद---विद्वान्।

विडंबना--तिरस्कार। अवसर कौड़ी--कौड़ी के देते समय। चुकै--चूके भूल करे। दुइज--दूज तिथि का। भरिपाख--पक्ष भर। कृसानु--अग्नि। दानि--देने वाला, हित करने वाला। न बसात--दुर्गन्ध नहीं आती, बू नहीं आती। लहसुनहू--लशुन थूम। सुलच्छन लोग--सुन्दर आचार वाले लोग, बुद्धिमान् लोग। सियाही--काले। दार--स्त्री। पर-अपवाद--दूसरे की निन्दा। पांवर--पामर, नीच। मनुजाद--राक्षस। सारदूल--सिंह। कूकर--कुत्ता। कीरति विजय विभूति--यश और विजय की श्री-शोभा। जूझे तो भल बूझिबो--लड़ने से समझ लेना (मेल करना) अच्छा है। डहके ते डहकाइबो--धोखा देने से धोखा खाना अच्छा है। कुफेर सुफेर--अच्छा और बुरा परिणाम। समर--युद्ध। प्रलाप--रुदन, हाय हाय।

पृ० ६० अनहित--(अपनी) बुराई का डर। चारु--सुन्दर। समरथ--समर्थ, शक्तिशाली। सुकृति--पुन्यवान्। दीरघ रोगी--लम्बा रोगी, चिरकालिक रोगी, बहुत देर का रोगी। कटुबच--कटुवादी, कड़वा बोलने वाला। बिनु काज--अकारण। कुचाली--खोटी चाल। कुसाज--पाप की उद्योग, खोटी तदबीर। चपरि--चपलता से, तेजी से। पितु-बैन--पिता के वचन। भाजन सुख--सुख के पात्र। अमरपति-ऐन--इन्द्र का स्थान, स्वर्ग। तृन जल कूल को--नदी के किनारे की घास। दादुर--मेंडक। सुअम्ब--सुन्दर आम। पाहन--पाषाण, पत्थर। सिखि--शिक्षा। थिरताइ--स्थिरता। लरिकाई--लड़कपन। छांह ज्यों--छाया की तरह। गुड़ी--पतंग। महि--पृथिवी पर।

रहीम

पृ० ६२. दसा--अवस्था। को--कौन।

पृ० ६३. सीस--सिर। केहि काज--किस लिए। रज--धूलि। मुनिपत्नी--गौतम मुनि की पत्नी, अहल्या। वह अपने पति के शाप से पत्थर हो गई थी और श्री राम के चरणों के स्पर्श से उसका उद्धार हुआ था। गजराज--हाथी। धनि--धन्य। सुदामा--एक दरिद्र

अंशु---जल। रिपुसूदन---शत्रुओं का नाश करने वाले, शत्रुघ्न। प्रमुदित---
प्रसन्न। लीन-विषय---विषयों में आसक्त।

पृ० ५७ हेतु रहित---कामना रहित, निःस्वार्थ, निष्काम। वेनु---बांस।
करील---ऊले का वृक्ष। श्रीखण्ड---कपूर। मृषा---झूठमूठ, व्यर्थ। सुरभि---
गाय। मोह शृंखला---मोह की रस्सी, अज्ञान का बन्धन। छुटिहि तुम्हारे
छोरे---तुम्हारे छुड़ाने से ही छूटेंगे। अनुग्रह---कृपा। साधन-धाम---धर्म की
साधना के आधार। विबुध---देवता। विष वारि---पदार्थों की वासना रूपी
जल। दारुन---कठोर। बंसी-पद-अंकुस---बांसुरी का शब्द रूपी कोड़ा।
प्रेम-मृदु-चारो---प्रेम रूपी कोमल चारा, घास आदि भोजन। विधि वेधि---
इस तरह से वेध कर---नाथ कर। कौतुक---तमाशा, खेल। स्नुति---श्रुति, वेद।
निहोरें---अनुरोध प्रार्थना करें। मोह-रजु---मोह रूपी रस्सी, अज्ञान रूपी
बन्धन। जोइ बाँध्यो सोइ छोरे---जिसने बाँधा है वही छोड़े। पुरुषारथ---
जीवन का ध्येय, परम उद्देश्य। थाको---समाप्त हुआ। विपति-बँटावन---दुःख
में भाग लेने वाले, सहायक। समर---युद्ध। साखामृग---वानर, बन्दर।
अनुज-सँघाती---छोटे भाई का घातक। जीह-देहरी---जिह्वा रूपी देहलीज।

पृ० ५८. उजियार---उजाला, प्रकाश। आस---आशा। वारिद---बादल
गहि---पकड़ कर। निरस---रस-प्रेम से हीन। रूखे विषय रस---विषय रस
से निर्लिप्त। चिकने राम-स्नेह---राम के स्नेह---प्रेम में भीगे हुए। ठौर---
स्थान, आश्रम। बिंध---विन्ध्याचल। सायर---समुद्र। उपास---उपवास,
फाका। विपच्छ---विपक्षी, विरोधी। अनुभव---ज्ञान। समता---समभाव, प्रेम।
दूबरी---दुबली, कमज़ोर। पीन---मोटा, पुष्ट। ऋनिया---ऋणी, उधार खाए
हुए। राम पद---भगवान् राम के चरणों की सेवा। द्रवहिं न---पिघलते
नहीं, दयार्द्र नहीं होते।

पृ० ५९. सूधी---सरल, सीधा। करतूति---काम। विधि---नियम, व्यवहार।
राकेस---रात्रि का स्वामी, चन्द्रमा। सरिस---सरस, मधुर। कुमुद---लाल फूल,
जो चन्द्रमा के उदय होने पर खिल उठता है। सूर---शूरवीर। कोविद---विद्वान्।

विडंबना--तिरस्कार। अवसर कौड़ी--कौड़ी के देते समय। चुकै--चूके भूल करे। दुइज--दूज तिथि का। भरिपाख--पक्ष भर। कृसानु--अग्नि। दानि--देने वाला, हित करने वाला। न बसात--दुर्गन्ध नहीं आती, बू नहीं आती। लहसुनहू--लशुन धूम। सुलच्छन लोग--सुन्दर आचार वाले लोग, बुद्धिमान् लोग। सियाही--काले। दार--स्त्री। पर-अपवाद--दूसरे की निन्दा। पांवर--पामर, नीच। मनुजाद--राक्षस। सारदूल--सिंह। कूकर--कुत्ता। कीरति विजय विभूति--यश और विजय की श्री-शोभा। जूझे तो भल बूझिबो--लड़ने से समझ लेना (मेल करना) अच्छा है। डहके ते डहकाइबो--धोखा देने से धोखा खाना अच्छा है। कुफेर सुफेर--अच्छा और बुरा परिणाम। समर--युद्ध। प्रलाप--रुदन, हाय हाय।

पृ० ६०. अनहित--(अपनी) बुराई का डर। चारु--सुन्दर। समरथ--समर्थ, शक्तिशाली। सुकृति--पुन्यवान्। दीरघ रोगी--लम्बा रोगी, चिरकालिक रोगी, बहुत देर का रोगी। कटुबच--कटुवादी, कड़वा बोलने वाला। बिनु काज--अकारण। कुचाली--खोटी चाल। कुसाज--पाप की उद्योग, खोटी तदबीर। चपरि--चपलता से, तेजी से। पितु-बैन--पिता के वचन। भाजन सुख--सुख के पात्र। अमरपति-ऐन--इन्द्र का स्थान, स्वर्ग। तृन जल कूल को--नदी के किनारे की घास। दादुर--मेंडक। सुअम्ब--सुन्दर आम। पाहन--पाषाण, पत्थर। सिखि--शिखा। थिरताइ--स्थिरता। लरिकाई--लड़कपन। छांह ज्यों--छाया की तरह। गुड़ी--पतंग। महि--पृथिवी पर।

रहीम

पृ० ६२. दसा--अवस्था। को--कौन।

पृ० ६३. सीस--सिर। केहि काज--किस लिए। रज--धूलि। मुनिपत्नी--गौतम मुनि की पत्नी, अहल्या। वह अपने पति के शाप से पत्थर हो गई थी और श्री राम के चरणों के स्पर्श से उसका उद्धार हुआ था। गजराज--हाथी। ...त्य। सुदामा--एक द...

अंबु--जल । रिपुसूदन--शत्रुओं का नाश करने वाले, शत्रुघ्न । प्रमुदित--प्रसन्न । लीन-विषय--विषयों में आसक्त ।

पृ० ५७. हेतु रहित--कामना रहित, निःस्वार्थ, निष्काम । वेनु--बांस । करील--टेंटे का वृक्ष । श्रीखण्ड--कपूर । मृषा--झूठमूठ, व्यर्थ । सुरभि--गाय । मोह शृंखला--मोह की रस्सी, अज्ञान का बन्धन । छुटिहि तुम्हारे छोरे--तुम्हारे छुड़ाने से ही छूटेंगे । अनुग्रह--कृपा । साधन-धाम--धर्म की साधना के आधार । विबुध--देवता । विष वारि--पदार्थों की वासना रूपी जल । दारुन--कठोर । बंसी-पद-अंकुस--बांसुरी का शब्द रूपी कोड़ा । प्रेम-मृदु-चारो--प्रेम रूपी कोमल चारा, घास आदि भोजन । बिधि बेधि--इस तरह से बेध कर--नाथ कर । कौतुक--तमाशा, खेल । स्रुति--श्रुति, वेद । निहोरें--अनुरोध प्रार्थना करें । मोह-रज--मोह रूपी रस्सी, अज्ञान रूपी बन्धन । जोइ बाँध्यो सोइ छोरे--जिसने बाँधा है वही छोड़े । पुरुषारथ--जीवन का ध्येय, परम उद्देश्य । थाको--समाप्त हुआ । विपति-बँटावन--दुःख में भाग लेने वाले, सहायक । समर--युद्ध । साखामृग--वानर, बन्दर । अनुज-सँघाती--छोटे भाई का घातक । जीह-देहरी--जिह्वा रूपी देहलीज ।

पृ० ५८. उजियार--उजाला, प्रकाश । आस--आशा । बारिद--बादल गहि--पकड़ कर । निरस--रस-प्रेम से हीन । रूखे विषय रस--विषय रस से निर्लिप्त । चिकने राम-स्नेह--राम के स्नेह--प्रेम में भीगे हुए । ठौर--स्थान, आश्रम । बिंध--विन्ध्याचल । सायर--समुद्र । उपास--उपवास, फाका । विपच्छ--विपक्षी, विरोधी । अनुभव--ज्ञान । समता--समभाव, प्रेम । दूबरी--दुबली, कमज़ोर । पीन--मोटा, पुष्ट । ऋनिया--ऋणी, उधार खाए हुए । राम पद--भगवान राम के चरणों की सेवा । द्रवहिं न--पिघलते नहीं, दयार्द्र नहीं होते ।

पृ० ५९. सूधी--सरल, सीधा । करतूति--काम । विधि--नियम, व्यवहार । राकेस--रात्रि का स्वामी, चन्द्रमा । सरिस--सरस, मधुर । कुमुद--लाल फूल, जो चन्द्रमा के उदय होने पर खिल उठता है । सूर--शूरवीर । कोविद--विद्वान ।

वेडंबना--तिरस्कार। अवसर कौड़ी--कौड़ी के देते समय। चुकै--चूके
भूल करे। दुइज--दूज तिथि का। भरिपाख--पक्ष भर। कृसानु--अग्नि।
दानि--देने वाला, हित करने वाला। न बसात--दुर्गन्ध नहीं आती, बू नहीं
आती। लहसुनहू--लशुन धूम। सुलच्छन लोग--सुन्दर आचार वाले लोग,
बुद्धिमान् लोग। सियाही--काले। दार--स्त्री। पर-अपवाद--दूसरे की
निन्दा। पांवर--पामर, नीच। मनुत्अद--राक्षस। सारदूल--सिंह। कूकर--
कुत्ता। कीरति विजय विभूति--यश और विजय की श्री-शोभा। जूझे तो
भल बूझिबो--लड़ने से समझ लेना (मेल करना) अच्छा है। डहके ते डहका-
इबो--धोखा देने से धोखा खाना अच्छा है। कुफेर सुफेर--अच्छा और बुरा
परिणाम। समर--युद्ध। प्रलाप--रुदन, हाय हाय।
पृ० ६०. अनहित--(अपनी) बुराई का डर। चारु--सुन्दर। समरथ--
समर्थ, शक्तिशाली। सुकृति--पुन्यवान्। दीरघ रोगी--लम्बा रोगी, चिरका-
लिक रोगी, बहुत देर का रोगी। कटुबच--कटुवादी, कड़वा बोलने वाला।
बिनु काज--अकारण। कुचाली--खोटी चाल। कुसाज--पाप की उद्योग,
खोटी तदवीर। चपरि--चपलता से, तेजी से। पितु-बैन--पिता के वचन।
भाजन सुख--सुख के पात्र। अमरपति-ऐन--इन्द्र का स्थान, स्वर्ग। तृन
जल कूल को--नदी के किनारे की घास। दादुर--मेंडक। सुअम्ब--सुन्दर
आम। पाहन--पाषाण, पत्थर। सिखि--शिक्षा। थिरताइ--स्थिरता।
लरिकाई--लड़कपन। छांह ज्यों--छाया की तरह। गुड़ी--पतंग। महि--
पृथिवी पर।

रहीम

पृ० ६२. दसा--अवस्था। को--कौन।
पृ० ६३. सीस--सिर। केहि काज--किस लिए। रज--धूलि।
मुनिपत्नी--गौतम मुनि की पत्नी, अहल्या। वह अपने पति के शाप से
पत्थर हो गई थी और श्री राम के चरणों के स्पर्श से उसका
उद्धार हुआ था। गजराज--हाथी। धनि--धन्य। सुदामा

ब्राह्मण कुमार, कृष्ण का सखा। बापुरो--बेचारा। मिताई जोग--मित्रता के योग्य। भावी--होनहार। काहू ना दही--जिसको नहीं जलाया। दही--जलाया। कतौ--कहीं। सीय--सीता। संतत--सदैव। सुधि--खबर। लखत है--देखता है। विषया--विषय, भोग विलास। लपटात--लिपटता है। वमन--उल्टी, कै। स्वन--कुत्ता। पद--पदवी, प्रतिष्ठा। पैग--पग, कदम। बावनै--बौना [विष्णु भगवान् वामन का स्वरूप धारण कर दानवराज बलि से केवल ३ पग भूमि का दान लेने गये थे। बलि के दान दे देने पर भगवान् ने अपना विराट् स्वरूप धारण कर दो ही पगों में सारी पृथ्वी नाप ली। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए दानवराज ने तीसरे पग नापने के लिए अपना शरीर ही अर्पण किया। इतना करने पर भी भगवान् का नाम वामन (बौना) ही रहा। सुचहिं--जमा करते हैं। सुजानि--भले मनुष्य, सज्जन। दूषन काढ़ि--दोष निकाल कर। दूबरो--दुबला। कूबरो--कुबड़ा। नखत--नक्षत्र, तारा। बाढ़ि--बड़ा। दीबो--दान देने की सामर्थ्य।

पृ० ६४. दरिद्रतर--अत्यन्त निर्धन। जाँचिवे जोग--माँगने योग्य। कानि--मर्यादा। गहि--ग्रहण करना। अतिसै--अतिशय, अत्यधिक। सहिजनौ--एक विशेष वृक्ष। हहरि कै--घबड़ा कर। निभै--गुज़ारा हो। केरु--केला। तप्यौ--तपने पर, उदय होने पर। तरैयन--तारा गण। रीते--खाली। अनरीते--अनीती, अन्याय। बारे--बालकपन में, जलाने से। बढ़े--बढ़े होने पर, बुझाने से। सहस--सहस्रों, हज़ारों। हय--घोड़े। मेख--कील। जिय--जीव।

पृ० ६५. गुन--गुण, रस्सी। दारा--स्त्री। गाढ़े दिन--विपत्ति के दिन। अगुनी--गुण से हीन पुरुष। अवगुन--दुर्गुण, दोष। हित-अनहित--भला-बुरा। परोस--पड़ोस। मामिला--मुक़दमा, मुसीबत। घटिलखै--
है। उलूक--उल्लू। पूतरा--पुतला, पतंग। सहजहि--स्वभा[illegible] । वि[illegible]
वायु, पवन। बिगरी--बिगड़ी। मही[illegible] पर।
अलग हो जाते हैं। भीर परै--मु[illegible]
ठहरता है, सहायता करता है। गोय--वि[illegible]

पृ० ६६. जोखिता--स्त्री। बरु--अच्छा। असन--भोजन, खाना। तोइ--जल। अनखाए--खाये बिना। अनखाइ--क्रोध करे। घरिया--घड़िया। भेसज--औषधि, दवा-दारू। करिया बासन--काला वस्त्र। करिखा--कालख।

पृ० ६७. दीन चाहै--देना चाहे। मर्कट--वानर। साहिबी--बड़प्पन, स्वामीपन।

बिहारीलाल

पृ० ६६. भवबाधा--संसार की बाधा। नागरि--नागरी, युवती, चतुर। झांई--परछाईं, छाया, कान्ति। दुति--द्युति, कान्ति। जोय--देखो। सुचित अन्तर--निर्मल हृदय में। सलोने--सुन्दर, नमकीन।

पृ० ७०. हुलसो--प्रसन्नता से भरा। पोत--ढंग, तौर। सरत--पूरा होता ह। दमामो--दमामा, ढोल। कोटि--करोड़। लटुवा--लट्टू। गुनी--गुणयुक्त, डोरी से लिपटा हुआ। दंद--द्वन्द्व, झगड़ा। मावस--अमावस्या की रात्रि। आमावस्या की रात को सूर्य और चन्द्रमा एक ही राशि पर होते हैं। दोनों प्रकाश के उत्पादक हैं, किन्तु इतने पर भी एक साथ रहने के कारण रात घोर काली हो जाती है। निसक--शक्तिहीन। विरद--स्तुति, प्रशंसा। कनक--सोना, धतूरा। अर्क तरु--आक का पौधा। अर्क--सूर्य। उदोत--उद्योत, प्रकाश। तारि दै--ताली बजा कर। नागरता--चातुरी। नल-नील--नल का पानी।

पृ० ७१. चटक--प्रेम। रज--धूल। राजस--धन, सम्पत्ति। नेह--(१) स्नह, प्रेम (२) तैल। नीत--नीति। गलीतहै--अत्यन्त दुःख सहकर। परेखो--परीक्षा। खरे बढ़े पर--पूर्ण वृद्धि पर। पारि--मर्यादा, बाध। कनक--(१) गेहूँ (२) सोना। बौरात है--बावला हो जाता है। खरो--बहुत। सकात--डरता है। निकलंक--कलंक से रहित। मयंक--चन्द्रमा। हंस--(१) पक्षी (२) साधु पुरुष। कागनि--कौवे। दई निड़ारि--भगा दी। दई--दैव, विधाता। डारन--डाली। गँवई--देहात में। कुरंग--हरिण। सुरभि--

सुलझ कर, बच कर। उरझत जात--उलझता जाता है। सराध-पख--श्राद्ध-पक्ष। सुआ--सुग्गा, तोता। वायस--कौवा। बलि की वेर--बली देती बार। निदाघ--गरमी में। डहडहो--हरा-भरा। ऋतुराज--वसन्त ऋतु। अपत--पत्तों से हीन।

पृ० ७२. मूर--जड़, बिलकुल। पीनसवारे--पीनस रोग का रोगी, सूँघने की शक्ति से हीन। सोरा--शोरा। लहियत--प्राप्त करते हैं। ओढ़--एक छोटी जाति के लोग। सरै न--सिद्ध नहीं होता। कांचै--कच्चा। रांचै--रीझते हैं। नीठि--मुश्किल से। विकट जटे--मज़बूती से बन्द। निपट--पूर्णरूप से। कपाट--किवाड़। भज्यो--भागे; दूर रहे। भज्यो न--भजन नहीं किया। निर्गुण--(१) गुण रहित (२) बिना तागा का। चंग-रंग--पतंग की भांति। जात जात वित--धन के जाते समय। मोष--मुक्ति, मोक्ष। अनाकनी--आनाकानी। गुहारि--पुकार, प्रार्थना। बारक--एक ही बार। वारन--हाथी। दई दई--हा दैव! हा दैव!

पृ० ७३. जगवाय--संसार की हवा। चसमा--चश्मा, ऐनक। चखन--आखों पर।

वृन्द

पृ० ७४. दल--पत्ते। सबलन--बलवान्, शक्तिशाली। विषे--अन्दर। दाध्यो--जला हुआ। छीलर ताल--उथला तालाब जिसमें पानी कम हो। करुवे भेषज--कड़वी औषधि। ताप--ज्वर, बुखार। तूठै कवन--कौन प्रसन्न हो। बनदव--दावानल, बन की आग। नलिन--कमल फूल। परिच--परिचय, मेल-मिलाप। अरुचि--असन्तोष, अप्रसन्नता। भाय--भाव।

पृ० ७५. काक पिक--कौवा और कोयल। काजर--काजल, काला। सेत--सफेद। कूप-भेक--कुएँ का मेंडक। सम--सीधा, साफ। विषम--ऊँचा-नीचा। थल--स्थल, भूमि। सरस--हरे-भरे, रसीले। चुम्बक--लोहे को अपनी ओर खींचने वाला पत्थर। पतन--गिरावट, अवनति। निदान--अन्त, परिणाम। मध्याह्न--दोपहर। सुरा--मद्य, शराब। अहीरी--दूध बेचने वाली। बिभौ--विभव, सामर्थ्य। सुरभित--सुगन्धित। कुठार--कुल्हाड़ा।

पृ० ७६. सधै--सिद्ध हो, पूर्ण हो। कारी--काली। करी--हाथी। संसर्ग--संग, साथ। लहत--पाते हैं। जलेश--जल का ईश, समुद्र। रिस--क्रोध। हरि--सिंह। हुंकरे--हुंकार करता है। स्यार--गीदड़। कन--दाना। निबरै--समाप्त हो जाता है। तोय--जल। देवल--देवस्थान, मन्दिर। वायस--कौवा। उमहै--उमग के साथ चाह से। गहै--पकड़ते हैं। पय--दूध। पयोधर--स्तन। सुरनाह--सुरनाथ, इन्द्र। मोद--प्रसन्नता, खुशी। उनयो--उमड़ते देखकर। पयोद--बादल। अहेत--शत्रुता। अपावन--अपवित्र।

पृ० ७७ ढिग--समीप, पास। भौन--भवन, स्थान, घर। बधिर--बहरा। श्रौन--श्रोत्र, कान। गुनवारौ--गुणवान् पुरुष। गुनयुत--रस्सी से बंधा हुआ। कदली--केले का वृक्ष। दिनेश--सूर्य। तिमिर--अन्धेरा। नेक--थोड़ा भी। पोष--पोषण से। पालन से।

पृ० ७८. अंबर-डंबर--आकाश की लाली। बारू--बालू, रेत। भीति--दीवार। जोय--जन्म पाता है। मिलै--मिल कर। जनाय--पहिचान कराता है। ऊख--गन्ना। बैन--वचन, बात। तमचुर--मुर्गा। गत रैन--रात बीतने पर। नारदी--नारद मुनि की सा। पैस--प्रवेश करो। भुँसि--भौंकना। मृगराज--सिंह, शेर। अमली--मादक चीजें खाने वाला। आफू--आक, कड़वी वस्तु। बिलायँ--नष्ट हो जाते हैं।

गिरिधर कविराय

पृ० ७६ साईं--स्वामी (सम्बोधन)। द्वन्द--कष्ट।

पृ० ८०. डोम--नीच, चाण्डाल। डोलत--फिरता घूमता है। पाहुन--मेहमान, अतिथि।

पृ० ८१ दावागीर--दावा करने वाला, अपना अधिकार जमाने वाला। मस्तक झारै--माथा पीटे, नीचा दिखाये। धूर के बाटी--धूल पर चलने वाले पथिक। धुँधुवाय--धुआँ देती है। टट्टी--पं-र। मित्ना--मित्र। लहैं--ले आदर कर।

पृ० ८२. झरि—झड़ी, बादल, वर्षा। अछत—रहते हुए। कमरी—कम्बल। बाफता—रेशमी वस्त्र। बुन्द जहँ—जहा वर्षा हो। आड़े आवे—सहायता दे। बकुचा—छोटी गठरी। मोठ—गठरी। झाड़ि—झाड़ कर। तातो—गरम गर्वित, अभिमानी। सियरे—ठंडे होकर, चुप होकर।

पृ० ८३. कृतघन—कृतघ्न। सर्वस—सर्वस्व, सब कुछ। काम काढि—मतलब निकाल कर। बोल अनबोले—चुप चाप। हहाय—अहा! अहा! करके। आतुर—दुःखी, दीन। अनखैहैं—क्रोध करता है। बहुरि—बहुत फिर। पौरि—ड्योढी, द्वार, फाटक। तकि—देख कर।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

पृ० ८५. कालगुदरिया सीएँ—कालरूपी गुदड़ी को सीयें, व्यर्थ काल बिताएं। बादहिं—व्यर्थ ही। सिरानी—समाप्त की। बिहानी—बिता दी। महानी—महान, बहुत।

पृ० ८६. माया मन्दिर—संसार। करन—करण, इन्द्रियाँ। साका—शासन, राज्य अधिकार। छाका—छका हुआ, मस्त। ऐहैं—आएंगे। थापि मरजाद—मर्यादा स्थापित कर के। अनन्य—अनन्य रूप से, सब सम्बन्ध नाते छोड़ कर। गाथ—गाथा, कथा, बात। साखी—साक्षी।

पृ० ८७. बासना—कामना, इच्छा। बीय—बीज। निह-किंचन—अकिंचन, अनाथ। बैस—वयस् आयु। बाँई—मुँह फैला कर। पुजयो—पूरा हुआ। जवनन—मुसलमानों को। आरज—आर्य लोग। नसे—नष्ट हो गए। गर—गला। विक्रम पारैं—बल का अभिमान करें।

पृ० ८८. रसना—जिह्वा, वाणी। जुड़ानि—सुखी होती। बच टेका—वचन की टेक। हेरी—देखी गई। कपाल क्रिया—जलते शव की खोपड़ी को बांस आदि से फोड़ने की क्रिया। दृगकोर—आंख का कोना। सुभग—सुन्दर। साने—भरे हुए। तरनि-तनूजा—सूर्य की पुत्री, यमुना। परसन—छूना। मुकुर—शीशा। नै रहे—झुक रहे। सैवालन—काई जल की घास। पांतिन—पंक्ति, कतार। अनगिन गोभा—असंख्य अंकुर।

पृ० ८६. पीय--पति। उपचार--सामग्री। भृङ्गन--भौंरे। मिस--बहाना। तियगन--स्त्री गण। कमला--लक्ष्मी। बगरे--बिखरे, फैले हुए। सतधा--सौ तरह से। राका--पूर्णिमा--तिथि। ओभा--आभा, कान्ति, रौनक़। रास-रमन मे--रास करने में। दुरि--दूर। पवन गवन वस--पवन चलने से। हिडोरन--हिंडोला। बाल गुड़ी--छोटी गुडी, पतंग। अवगाहत--स्नान करती है।

पृ० ९०. प्रतच्छ--प्रत्यक्ष, प्रकट। अविकल--पूर्ण। कलिन्दी--यमुना। रजत--चांदी। मल्ल--योधा, पहलवान। कलहंस--सुन्दर हंस। पारावत--कबूतर। कारंडव--सारस। रोर--शोर।

श्रीधर पाठक

पृ० ९१. भव्य--सुन्दर। व्योम--आकाश।

पृ० ९२--संप्रदान--देना। अक्षयवट--प्रलय में न नष्ट होने वाला वट वृक्ष। अभिनव प्रवाल--नया अंकुर। रसाल--आम। तंत्री--वीणा। मृणाल--कमल डंडी। ह्रद--तालाब। मराल--हंस। भारति--सरस्वती। मंदार--कल्पवृक्ष। भूषा--पहरावा। अभिनिवेश--प्रवेश। समभिनंद्य--पूजनीय।

पृ० ९३--कलोलिनी--तरंगवाली। अमि--अमृत। वितान--शामियाना। लिहसा--लिपटा हुआ। सद्य--तुरन्त। दिङ्नारि--दिशा रूपी स्त्री। प्रहित--भेजा हुआ। बैलून--हवाई जहाज। अनति--थोड़ा।

पृ० ९४. आर्ति--दुःख। पीठ थल--विद्या-केन्द्र, स्थान। सारदा सवनि--सरस्वती को उत्पन्न करने वाली। प्रथित--प्रसिद्ध। अभिराम--सुन्दर। स्वर्ग सहोदरि--स्वर्ग की बहिन। कोविद--विद्वान्। सुठि--सुन्दर। चितर-सारी--चित्रशाला। ललकत--चहल पहल करती है।

पृ० ९५. डसति--(हृदय) खींचती हुई। किंकरता--दासता। मौलि--मस्तक, माथा सिर। तुहिन--वर्फ। अलवेली--सुन्दर। सेली--पगड़ी। ओक--स्थान। पुरन्दर--इन्द्र।

पृ० ९६. सहसन—सहसा, अचानक। सहसानन—शेषनाग। एनु—स्थान। सुकेलि—सुन्दर लीला। साल—एक वृक्ष। रावरो—शब्द करता हुआ। अभग्न—पूर्ण। विभ्रम—विलास।

पृ० ९७. कलत्र—स्त्री, पत्नी। सत्ता—अस्तित्व, हस्ती। प्रतियोगी—शत्रु।

नाथूराम शंकर

पृ० ९९. आतप-वात—धूप और आंधी। छात्र—छप्पर, औहद। कांदा—कीचड़। तोस—चैन। सुमन विकाश—फूलों का खिलना। भूभल—गरम रेत। झाखर—कांटेदार झाड़ियां। चञ्चला—बिजली।

पृ० १००. स्वेद—पसीना।

पृ० १०१. पजारे—जला दे। हुताशन—आग। घमस—गरमी। आराम—बाग बगीचे। ब्यार—वायु। वृषारूढ़—वृष राशि के सूर्य। रस—शरबत। खलियान—कटे हुए अनाज का ढेर। दाँयचलना—अनाज को भूसी से जुदा करने के लिये बैलों से रुंदवाना। बायलर—इञ्जन में अग्नि का स्थान। बलाहक—मेघ, बादल। प्रतिवाद-प्रगल्भ—बहस में चतुर। मनोमुख—अपनी मानने वाले।

पृ० १०२. लबार—बातूनी, गप्पी। भगोड़—भगोड़ा, भागने वाला। पोच—नीच। प्रण रोप—बाज़ी लगा कर।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

पृ० १०४. अजिर—आंगन, सेहन। उलहती—लहलहाती। किंकिणी—तड़ागी। क्वणित—शब्द देती हुई। कलित—सुन्दर।

पृ० १०५. कलवादित—मीठी झंकार। मालिका—पंक्ति। घहराता—शब्द करता हुआ। छिति—भूमि। अंशु—किरण। फणिनी—सर्पिणी। सुस्नावित—अच्छी तरह से धुली। समीर—वायु। उपकारिता—उपयोगिता, लाभ।

पृ० १०६. जीवट—साहस, जिगरा। पेट के हल्के—चुगलखोर।

पृ० १०७. पूततम—बहुत पवित्र ।

पृ० १०८ महनीय—पूज्य । अनादृत—तिरस्कृत ।

मैथिलीशरण गुप्त

पृ० ११२. प्रज्ञा-पगे—बुद्धि-पूर्ण ।

पृ० ११३. सान्त्वना—ढारस, शान्ति । परन्तप—शत्रुनाशक ।

पृ० ११४. दुर्द्धर्ष—कठिन ।

पृ० ११६. मानधन—पति ।

पृ० १२०. अभीप्सित—चाही गई बात । वैधव्यतुषारावृता यथा विधुलेखा-विधवापन रूपी कुहरे से ढकी हुई चाद की ज्योति ।

पृ० १२१. अनुपात—पश्चात्ताप । नीरव—चुप चाप, शब्द रहित । उल्का—पुच्छल तारा, अनिष्ट का हेतु । वैतरणी—एक नदी का नाम । वरुणा—नदी की नाम ।

पृ० १२२. कुलिस—वज्र । पंकिला—कीचड़ से मिली, कलङ्किणी । पद्मकोष—कमल की उत्पादक । अब्द—वर्ष, साल । वीचि—लहर । ह्रास—अवनति, गिरावट ।

पृ० १२३. प्रहरी—पहरेदार । ख ास—पूर्ण ग्रहण । बिलावे—छिप जाए ।

माखनलाल चतुर्वेदी

पृ० १२६. क्षुद्रता—नीचता । पिशाची—चुड़ेल । कीट—कीड़ा । टकसाल—सिक्के ढालने का स्थान, करेंसी ।

पृ० १२७. पीयूष—अमृत । सुर-बाला—देव कन्या ।

पृ० १२८. हीतल—हृदय स्थान । काकलि—राग । आराध्य—पूजा के योग्य । मोदक—लड्डू । तुषार—हिम, बर्फ । कुम्भीपाक—नरक विशेष ।

पृ० १२९. जोहा—ढूंढता ।

पृ० १३०. केन—बैन । चेन—जंजीर । डेली—दैनिक, रोज़ाना । मे-इन हिन्दुस्तान—हिंदुस्तान में बनी हुई ।

० १३१. कृषि—खेती बाड़ी । पार्थ-पुत्र

पृ० ६६. सहसन—सहसा, अचानक। सहसानन—शेषनाग। एनु—स्थान। सुकेलि—सुन्दर लीला। साल—एक वृक्ष। रावरो—शब्द करता हुआ। अभग्न—पूर्ण। विभ्रम—विलास।

पृ० ६७. कलत्र—स्त्री, पत्नी। सत्ता—अस्तित्व, हस्ती। प्रतियोगी—शत्रु।

नाथूराम शंकर

पृ० ६६. आतप-वात—धूप और आंधी। झाबर—छप्पर, जौहड़। कांदा—कीचड़। तीत्त—चैन। सुमन विकाश—फूलों का खिलना। भूभल—गरम रेत। झाखर—काटेदार झाड़ियां। चञ्चला—बिजली।

पृ० १००. स्वेद—पसीना।

पृ० १०१. पजारे—जला दे। हुताशन—आग। घमस—गरमी। आराम—बाग़ बगीचे। ब्यार—वायु। वृषारूढ़—वृष राशि के सूर्य। रस—शरबत। खलियान—कटे हुए अनाज का ढेर। दाँयचलना—अनाज को भूसी से जुदा करने के लिये बैलों से रुंदवाना। बायलर—इञ्जन में अग्नि का स्थान। बलाहक—मेघ, बादल। प्रतिवाद-प्रगल्भ—बहस में चतुर। मनोमुख—अपनी मानने वाले।

पृ० १०२. लबार—बातूनी, गप्पी। भगोड़—भगोड़ा, भागने वाला। पोच—नीच। प्रण रोप—बाज़ी लगा कर।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

पृ० १०४. अजिर—आंगन, सेहन। उलहती—लहलहाती। किंकिणी—तड़ागी। क्वणित—शब्द देती हुई। कलित—सुन्दर।

पृ० १०५. कलवादित—मीठी झंकार। मालिका—पंक्ति। घहराता—शब्द करता हुआ। छिति—भूमि। अंशु—किरण। फणिनी—सर्पिणी। सुप्लावित—अच्छी तरह से धुली। समीर—वायु। उपकारिता—उपयोगिता, लाभ।

पृ० १०६. जीवट—साहस, जिगरा। पेट के हल्के—चुगलखोर।

ब्राह्मण कुमार, कृष्ण का सखा। बापुरो--बेचारा। मिताई जोग--मित्रता के योग्य। भावी--होनहार। काहू ना दही--किसको नहीं जलाया। दही--जलाया। कतौ--कहीं। सीय--सीता। संतत--सदैव। सुधि--खबर। लखत है--देखता है। विषया--विषय, भोग विलास। लपटात--लिपटता है। वमन--उल्टी, कै। स्वन--कुत्ता। पद--पदवी, प्रतिष्ठा। पैग--पग, कदम। बावनै--बौना [विष्णु भगवान् वामन का स्वरूप धारण कर दानवराज बलि से केवल ३ पग भूमि का दान लेने गये थे। बलि के दान देते पर भगवान् ने अपना विराट् स्वरूप धारण कर दो ही पगों में सारी पृथ्वी नाप ली। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए दानवराज ने तीसरे पग नापने के लिए अपना शरीर ही अर्पण किया। इतना करने पर भी भगवान् का नाम वामन (बौना) ही रहा। सुचहिं--जमा करते हैं। सुजानि--भले मनुष्य, सज्जन। दूषन काढ़ि--दोष निकाल कर। दूबरो--दुबला। कूबरो--कुबड़ा। नखत--नक्षत्र, तारा। बाढ़ि--बड़ा। दीबो--दान देने की सामर्थ्य।

पृ० ६४. दरिद्रतर--अत्यन्त निर्धन। जाँचिबे जोग--मांगने योग्य। कानि--मर्यादा। गहि--ग्रहण करना। अतिसै--अतिशय, अत्यधिक। सहिजनौ--एक विशेष वृक्ष। हहरि कै--घबड़ा कर। निभै--गुज़ारा हो। केरु--केला। तप्यौ--तपने पर, उदय होने पर। तरैयन--तारा गण। रीते--खाली। अनरीते--अनीती, अन्याय। बारे--बालकपन में, जलाने से। बढ़े--बड़े होने पर, बुझाने से। सहस--सहस्रों, हज़ारों। हय--घोड़े। मेख--कील। जिय--जीव।

पृ० ६५. गुन--गुण, रस्सी। दारा--स्त्री। गाढ़े दिन--विपत्ति के दिन। अगुनी--गुण से हीन पुरुष। अवगुन--दुर्गुण, दोष। हित-अनहित--भला-बुरा। परोस--पड़ोस। मामिला--मुक़दमा, मुसीबत। घटिलखै--थोड़ा देखता है। उलूक--उल्लू। पूतरा--पुतला, पतंग। सहजहि--स्वभाव से। बाइ--वायु, पवन। बिगरी--बिगड़ी। मही--छाँछ, तक्र। बिलगाई--अलग अलग हो जाते हैं। भीर परै--मुशकिल पड़ने पर। ठहराइ--पास ठहरता है, सहायता करता है। गोय--छिपा रखो।

विडंबना--तिरस्कार। अवसर कौड़ी--कौड़ी के देते समय। चुकै--चूके भूल करे। दुइज--दूज तिथि का। भरिपाख--पक्ष भर। कृसानु--अग्नि। दानि--देने वाला, हित करने वाला। न बसात--दुर्गन्ध नहीं आती, बू नहीं आती। लहसुनहू--लशुन थूम। सुलच्छन लोग--सुन्दर आचार वाले लोग, बुद्धिमान् लोग। सियाही--काले। दार--स्त्री। पर-अपवाद--दूसरे की निन्दा। पांवर--पामर, नीच। मनुजाद--राक्षस। सारदूल--सिंह। कूकर-कुत्ता। कीरति विजय विभूति--यश और विजय की श्री-शोभा। जूझे तो भल बूझिबो--लड़ने से समझ लेना (मेल करना) अच्छा है। डहके ते डहकाइबो--धोखा देने से धोखा खाना अच्छा है। कुफेर सुफेर--अच्छा और बुरा परिणाम। समर--युद्ध। प्रलाप--रुदन, हाय हाय।

पृ० ६०. अनहित--(अपनी) बुराई का डर। चारु--सुन्दर। समरथ--समर्थ, शक्तिशाली। सुकृति--पुन्यवान्। दीरघ रोगी--लम्बा रोगी, चिरकालिक रोगी, बहुत देर का रोगी। कटुबच--कटुवादी, कड़वा बोलने वाला। बिनु काज--अकारण। कुचाली--खोटी चाल। कुसाज--पाप की उद्योग, खोटी तदबीर। चपरि--चपलता से, तेजी से। पितु-बैन--पिता के वचन। भाजन सुख--सुख के पात्र। अमरपति-ऐन--इन्द्र का स्थान, स्वर्ग। तृन जल कूल को--नदी के किनारे की घास। दादुर--मेंडक। सुअम्ब--सुन्दर आम। पाहन--पाषाण, पत्थर। सिखि--शिक्षा। थिरताइ--स्थिरता। लरिकाई--लड़कपन। छांह ज्यों--छाया की तरह। गुड़ी--पतंग। महि--पृथिवी पर।

रहीम

पृ० ६२. दसा--अवस्था। को--कौन।

पृ० ६३. सीस--सिर। केहि काज--किस लिए। रज--धूलि। मुनिपत्नी--गौतम मुनि की पत्नी, अहल्या। वह अपने पति के शाप से पत्थर हो गई थी और श्री राम के चरणों के स्पर्श से उसका उद्धार हुआ था। गजराज--हाथी। धनि--धन्य। सुदामा--एक दरिद्र

पृ० १५४. नील निलय—नीलाकाश। शलभ पुंज—पतंगों का समूह। अनल शिखा—अग्नि की लपट। अनंग—काम देव। नश्वरता—नाशशीलता, मृत्यु। मधुशाला—शराब की दूकान।

पृ० १५५. अलक—घुंघराले बाल। ललक—उत्कट इच्छा। मधुबाला—मदिरा रूपी बाला। मरुमरीचिका—मरुस्थल में होने वाली व्यर्थ पानी की इच्छा। कुरंग—हरिण। निषंग—तरकस। अभिनय—नाटक। ऊषा—प्रातःकाल की लाली। पिङ्गल—पीले रंग की। कलरव—मीठा शब्द।

पृ०.१५६. अगजग—स्थावर और जंगम। सिकता—रेत। नियति—भाग्य, दैव। एषणा—इच्छा। कशाघात—चाबुक की चोट। घोषणा—मुनादी, ढोंडी।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला।

पृ० १५६ लकुटिया—लाठी। कलुष—काला।

पृ० १६२ मन्द्र—गंभीर।

पृ० १६३. धौत—धोई हुई। अपलक—पलक झपके बिना। शतदल—कमल। खेद—दुःख।

सुमित्रानन्दन पन्त

पृ० १६६. स्मिति—मुसकान। जटिल—अड़ी हुई, घनी। स्पंदन—गति।

पृ० १६७. स्तब्ध—रुका हुआ।

पृ० १६६. विधुरा—दुःखित। प्रस्तर—पत्थर।

सियारामशरण गुप्त

पृ० १७१. प्राची—पूर्व दिशा में। प्रान्तर—भूमि। सुप्ति—निद्रा।

पृ० १७२. झंखाड़—कण्टीली झाड़ियां। उत्तरीय—ऊपर का वस्त्र। गर्त्त—गढ़ा। क्षतच्छिन्न—घावों से छिन्न-भिन्न। झंझा—आंधी। मन्थरता—जड़ता। वातूल—बावला, पागल।

पृ० १७४. म्रियमाण—मुर्दा सा। रिक्तता—खाली पन। उऋण—उधार से छूटना।

पृ० १७५. विकीर्ण—फैलाया। विजन कक्ष—निर्जन स्थान। अट्टहास—ऊँची हँसी।

पृ० १७७. शहनाई—तूती। नैश—रात्री का।

पृ० १७८. निस्तब्ध—चुपचाप। कौशिक—रेशमी वस्त्र। आर्द्रा—भीगी हुई, दुखी। दुरन्त—परिणाम में बुरा।

पृ० १७९ उद्भ्रान्त—भ्रम खाया हुआ। प्रभाकर—चाँद।

पृ० १८०—यातायात—आना जाना।

बालकृष्ण शर्मा नवीन

पृ० १८३. अधिकरण—स्थान, पात्र। आसव—मदिरा। प्रतिनिधि—स्थानापन्न, प्रतिरूप। गति-विधि—चाल-ढाल।

पृ० १८४. वैयक्तिक—खास मनुष्य सम्बन्धी। व्यष्टि-समष्टि—अकेला और समूह। सरणि—विधि प्रकार। धावक—दौड़ने वाली। मन्दाकिनी—गंगा। गलबहियां—गले में बाजू डाल। ईति-भीति—दुःख और भय। दानव—राक्षस। संस्कृति—विशुद्धता, सभ्यता। चरम—अन्तिम, पूर्ण। भौतिक—पदार्थ सम्बन्धी। माप दण्ड—तोल का दण्ड। शाश्वत—सदा, सनातम। नवल—नया। सोपान—सीढ़ी। सान्तता—समाप्ति से युक्त। प्रणोदना—प्रेरणा। प्रतिहिंसक—बदले में हिंसा करने वाले।

पृ० १८६. उपत्यका—पर्वत की घाटी।

पृ० १८७. पंकिल—पाप पूर्ण। मोहक बन्ध—मोहने वाला बन्धन।

उदयशंकर भट्ट

पृ० १९२. हुंकृति—हुंकार। झंझा—तेज़ वायु।

पृ० १९३. वसुधाधर—पर्वत। शोणित—रक्त। जमघट—समूह। शुभ्र—कलङ्कहीन, सफेद।

पृ० १९४. सुघड़—सुन्दर। उड़न खटोला—विमान। रोमन्थन—जुगाली करना, बार बार सोचना। विहार-स्थल—क्रीड़ा-भूमि। उपालंभ—उलाहना।

पृ० १६५ क्लैब्य--क्लीवता, नपुंसकता। वञ्चकता--ठगी। कुत्सित--घृणित।

भगवतीचरण वर्मा

पृ० १६७. परिधि—सीमा, हद। उद्गार—वचन। अतीत--बीती हुई। कसक—पीड़ा।

पृ० १६८ ठसक—चाह, इच्छा। अवहेला—उपेक्षा, निरादर।

रामकुमार वर्मा

पृ० २०१. पर्यन्त—तक।

पृ० २०२. रश्मि—किरण।

पृ० २०३. सजीले—सुन्दर। ज्वार—ज्वार भाटा। खद्योत—तारे, चन्द्रमा, सूर्य।

महादेवी वर्मा

पृ० २०५. नीड़—घोंसला। पारावार—समुद्र। शैशव—बचपन।

पृ० २०६. अवसाद—दुःख।

पृ० २०७ उपकरण—सामग्री। वर्ति—बत्ती। पुलिन—किनारा। असीम—बेहद।

पृ० २०८ उत्ताल—ऊँचा उठती हुई। नैसर्गिक—स्वाभाविक, प्राकृतिक।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

पृ० २०८ स्फुलिंग—अंगारा। निर्विषाद—दुःख से रहित। वज्रनाद—बिजली का शोर।

पृ० २०९ दुर्द्धर्ष—दुर्जय। जिज्ञासा—जानने की इच्छा। उद्दाम—ऊँची। विप्लव—बाढ़, संघर्ष। सूत्रधार—निर्मायक, मूलस्थापक। ताण्डव—नृत्य, नाच। मुग्धवास—मादक गन्ध। कलिका—डोडी।

पृ० २१०. निसार--जीवन स्वाहा करने वाले। दृग—आंख। कर्णधार—मल्लाह। शलाका—सलाई।

पृ० २११. चरम--अन्तिम। भूलुण्ठित--पृथ्वी में लोट-पोट।

पृ० २१२. सज्जित—तैयार। रणभेरी—युद्ध का नाद। ... सेनानायक।

पृ० २१२. श्रमिक—श्रमजीवी, मज़दूर। हिलोर—लहर, इच्छा।

पृ० २१३. सन्धान—खोज, चिन्ह। आह्वान—बुलावा। खग— आकाश मण्डल।

पृ० २१४. रुद्र—भयानक। निमिष—पल, क्षण।

हरिकृष्ण प्रेमी

पृ० २१६ मृग छौना—मृग का बच्चा।

पृ० २१७. पूनों—पूर्णिमा तिथि। ज्योत्स्नाजाल—प्रकाश समूह।

पृ० २१८ तरणी—नाव। अविरत—सदा ही। विरति—वैराग्य।

हरिवंशराय बच्चन

पृ० २२१. आवर्त—घेरा।

पृ० २२२. उगाहा—वसूल किया। संजोना—इकट्ठा करना। कुंदन सोना।

पृ० २२२. भावुकता—साधुता।

पृ० २२४. खण्डहर—टूटे फूटे मकानों के चिन्ह। निःशेष—बाकी।

Printed by L. Dhanpat Rai Sethi, Manager,
at the Vishveshvaranand Vedic Press,
17, Maclagan Road, Lahore & Published by
Dewan Bahadur S. P. Singha, M.A., LL. B., M.L.A., Regis
University of the Panjab, Kacheri Road, Lahore.